ISSN : 2231-0509
वर्ष 20/अंक 6/नवम्बर-दिसम्बर, 2018

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका
वर्ष 20/अंक 6/नवम्बर-दिसम्बर, 2018

प्रधान संपादक रोहित धनकर
संपादक प्रमोद
प्रबंधक रीना दास
कला पक्ष रामकिशन अडिग
कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क
शिक्षा विमर्श
दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,
जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
फोन : (0141) 2750310
मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)
ई मेलः shikshavimarsh@digantar.org
वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	300	450
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए प्रतिवर्ष 100 रुपये अतिरिक्त भिजवाएं)

ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय

महत्वाकांक्षाओं के आइने में शिक्षा 3

❑ प्रमोद

साक्षात्कार

बाल-साहित्य में एक दशक का बदलाव 6

❑ प्रभात से करिश्मा बाजपेई की बातचीत

शिक्षा का समाजशास्त्र

शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-V
नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोण 11

❑ अमन मदान

गणित का शिक्षणशास्त्र

गणित शिक्षण भाग-I
संख्या संबंधी केन्द्रीय विचार 20

❑ रविकांत

लेख

उपलब्धि सर्वेक्षणों का भूगोल और गांवों के स्कूल 24

❑ ऋषभ कुमार मिश्र और रवनीत कौर

शिक्षा का स्वरूप मानवीय चेतना से तय हो
न कि बाजार की जरूरतों से 32

❑ आलोक कुमार मिश्रा

अनुभव

पर्यावरण अध्ययन का एक अध्याय
''मंडी से घर तक'' पर शिक्षकों व बच्चों के साथ काम की झलक 35

❑ कालू राम शर्मा

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास
द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित
एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

महत्वाकांक्षाओं के आइने में शिक्षा

फरवरी* माह में केन्द्रीय बजट आ गया है। यह इस सरकार का अंतिम बजट है। पिछले पांच सालों में कई क्षेत्रों में तेजी से बदलाव हुए हैं या बदलाव के वादे किए गए हैं इनमें से स्कूली शिक्षा भी एक है। शिक्षा प्रणाली में कई संरचनात्मक बदलाव किए गए हैं। नई शिक्षा नीति के प्रस्ताव, उच्च शिक्षा स्तर पर उच्च जाति के गरीब छात्रों के लिए 10 प्रतिशत कोटे का प्रावधान, समग्र शिक्षा अभियान की शुरुआत, फेल न करने की नीति की समाप्ति से लेकर जिला स्तरीय राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षणों तक यह बदलाव व्यापक स्तर पर किए गए हैं या किए जाने की इच्छा सरकार की रही है। इनमें से कुछ पार चढ़ पाए हैं और कुछ का भविष्य क्या होगा कहा नहीं जा सकता। माध्यमिक शिक्षा मिशन व सर्वशिक्षा अभियान को मिला कर समग्र शिक्षा अभियान की शुरुआत हो चुकी है, जिला स्तरीय राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षण के एक दौर के परिणाम पिछली साल आ चुके हैं। परीक्षा लेने व फेल करने की नीति लागू हो चुकी है मगर बहुप्रचारित नई शिक्षा नीति सिर्फ प्रस्ताव तक सिमट कर रह गई और इस सरकार के लिए अब एक स्वप्न में तब्दील हो गई।

इस सरकार ने खास कर हमारे प्रधानमंत्री ने एक बात जो बहुत दोहराई थी वह थी विश्व में सबसे युवा आबादी वाला देश होने की। मगर आंकड़े बताते हैं कि हम इस 'जनसांख्यकीय लाभांश' (डेमाग्राफिक डिविडेंड) का सदोपयोग करने में विफलता की ओर बढ़ रहे हैं।

लोकतांत्रिक समाज में नागरिक के निर्माण की जिम्मेदारी शिक्षा के कंधों पर आती है मगर शिक्षा पर खर्च लगातार कम होता गया है। नीचे दिया गया चित्र बताता है कि पिछले पांच सालों में यह कुल केन्द्रीय बजट के 4.6 प्रतिशत से घट कर 3.5 प्रतिशत पर पहुंच गया है और सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 0.64 प्रतिशत से घट कर 0.45 प्रतिशत रह गया है।

चित्र : केन्द्र सरकार द्वारा शिक्षा पर किया जाने वाला बजटीय व्यय (प्रतिशत में)

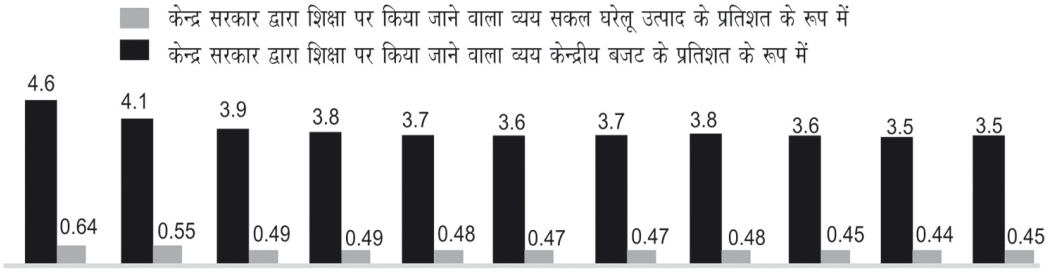

स्रोत : विभिन्न वर्षों के बजट दस्तावेजों का सीबीजीए द्वारा समेकन

वा. = वास्तविक बजट; **ब.अ.** = बजट अनुमान; **स.अ.** = संशोधित अनुमान

* फरवरी, 2019

सारणी : स्कूली शिक्षा की कुछ विशेष योजनाओं को बजट आवंटन (करोड़ रुपयों में)

योजनाएं	2014–15 वास्तविक	2015–16 वास्तविक	2016–17 वास्तविक	2017–18 वास्तविक	2018–19 संशोधित अनुमान	2019–20 बजट अनुमान
राष्ट्रीय शिक्षा मिशन	29070	27066	27616	28209	30834	36472
सर्वशिक्षा अभियान	24097	21661	21685	23484	26129	––
राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान	3398	3563	3698	4033	4164	––
समग्र शिक्षा अभियान	––	––	––	––	––	36322
मध्याह्न भोजन	10523	9145	9475	9092	9949	11000
शिक्षक प्रशिक्षण व वयस्क शिक्षा	1158	916	817	691	541	––
शिक्षक प्रशिक्षण संस्थानों को बेहतर बनाना	500	489	495	478	480	––
केन्द्रीय विद्यालय संगठन	3243	3278	3987	4997	5007	4862
नवोदय विद्यालय समिति	2013	2285	2620	3185	3213	3068
राष्ट्रीय बालिका मा. शिक्षा की प्रोत्साहन योजना	––	154	45	292	256	100
अल्प संख्यकों के विकास लिये अम्ब्रेला प्रोग्राम	119	296	109	108	120	120

स्रोत : विभिन्न वर्षों के बजट दस्तावेजों का सीबीजीए द्वारा समेकन

हमारी शिक्षा प्रणाली का जोर इन पिछले सालों में निवेश की बजाए परिणाम पर केन्द्रित हो गया है। इसके परिणामस्वरूप मुफ्त एवं अनिवार्य शिक्षा कानून (आरटीई) में गुणावत्ता पूर्ण शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिए जो न्यूनतम प्रावधान किए गए हैं उन्हें भी पूरा करना संभव नहीं हो पाया है। शिक्षा केन्द्र व राज्यों की साझी जिम्मेदारी है इसका फायदा उठाते हुए 14वें वित्त आयोग की सिफारिशों के बाद से केन्द्र सरकार ने अपनी ज्यादातर जिम्मदारियों को राज्य के पाले में धकेल दिया है। स्कूलों की हालत सीखने के मामले में लगातार गिरती जा रही है। और इसकी ठोस वजहें भी हैं। सरकार ने हाल ही में आरटीई में संशोधन कर शिक्षकों की न्यूनतम योग्यता हासिल करने की समय सीमा सन् 2015 से बढ़ा कर 2019 कर दी है। मौजूदा 64.41 लाख शिक्षकों में से 11 लाख अभी भी अप्रशिक्षित हैं। शिक्षण प्रशिक्षण संस्थानों को बेहतर बनाने के लिए आवंटित किया जाने वाला बजट 2014-15 से अभी तक कभी भी 500 करोड़ रुपये की सीमा के पार नहीं जा पाया यह इतने बड़ी शिक्षा प्रणाली के सापेक्ष ऊंट के मुंह में जीरे जैसा है और संरकार की मंशा को सवालों के घेरे में ला खड़ा करता है।

अप्रशिक्षित शिक्षकों की समस्या को सर्वशिक्षा अभियान व राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा मिशन के तहत आयोजित किए जाने वाले सेवाकालीन प्रशिक्षणों के जरिए हल करने की कोशिश होती रही है यह अपने आप में एक विवादित मुद्दा है क्योंकि इसमें यह मान्यता निहित है कि शिक्षक बनने के लिए किसी प्रकार के सेवा पूर्व शिक्षक प्रशिक्षण या अध्यापक शिक्षा की जरूरत नहीं है और कुछ दिनों के सेवा कोलीन प्रशिक्षणों के बल पर योग्य शिक्षक तैयार किए जा सकते हैं। क्या हम कभी स्वास्थ्य के क्षेत्र में ऐसे चिकित्सकों की कल्पना कर सकते हैं जिन्हें बिना किसी पूर्व शिक्षण या प्रशिक्षण के ऑपरेशन करने की इजाजत दे दी गई हो और फिर कुछ दिनों के लिए सेवा कालीन प्रशिक्षण आयोजित कर उन्हें योग्य चिकित्सक की मान्यता दे दी गई हो। यह तुलना हालांकि नहीं की जानी चाहिए किन्तु स्थिति की गंभीरता को महसूस करवाने के लिए इसकी जरूरत यहां थी। इन सेवा कालीन प्रशिक्षणों की गुणवत्ता भी संदेह के घेरे में रही है ऐसे में हम कैसे हमारे देश की भावी पीढ़ी की शिक्षा की जिम्मेदारी इन शिक्षकों के कंधों पर छोड़ सकते हैं। दूसरे

का प्रशिक्षणों को बजट बेहद कम होता है। यह सर्वशिक्षा अभियान व राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा मिशन के प्रशिक्षणों के लिए क्रमशः 100 रुपये व 300 रुपये प्रति शिक्षक प्रति दिन होता है। क्या हम उम्मीद कर सकते हैं कि इतने कम बजट में गुणवत्तापूर्ण प्रशिक्षण सम्भव है! सरकार ने शिक्षक प्रशिक्षण व अध्यापक शिक्षा की स्थिति को बेहतर करने की बजाए पिछले समय में 'स्वयं' नामक ऑन लाइन वेब पोर्टल शुरू कर दिया है। इस पर शिक्षकों के लिए 18 महीने के कोर्स शिक्षकों के लिए उपलब्ध हैं। शिक्षा केवल कुछ सिद्धांतों को पढ़ लेना भर नहीं है। इसमें मनुष्यों के बीच होने वाली अंतर्क्रिया महत्वपूर्ण है। जब तक शिक्षक स्वयं उस अंतर्क्रिया से नहीं गुजरेंगे हमें उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वे उसे अपने छात्रों के साथ अंजाम दे पाएंगे।

बताया जा रहा है कि हाल ही में शुरू हुए समग्र शिक्षा अभियान का एक उद्देश्य सेवा पूर्व व सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षणों को मदद करना भी है। मगर उसके लिए आवंटित कुल बजट का मात्र दो प्रतिशत ही अध्यापक शिक्षा के हिस्से आया है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का दूसरा संकेतक संसाधनों की उपलब्धता भी सन् 2015 तक आरटीई मानदंडों को पूरा करने के अपने लक्ष्य को हासिल करने में नाकाम रहा है।

जब प्रधानमंत्री 'शिक्षा पे चर्चा' में टिप्पणी करते हैं कि शिक्षा प्रणाली ने ''शिक्षा को जीवन से काट दिया है और इसे परीक्षाओं से जोड़ दिया है'' तो यह खुद उनकी सरकार द्वारा फेल न करने की नीति को समाप्त कर दिए जाने पर सवाल खड़ा करती है और खुद उनकी सरकार के इस निर्णय को हास्यास्पद बना देती है।

पिछले पांच सालों में नीति आयोग का जोर परिणामोन्मुख रहा लेकिन उक्त तथ्य आपूर्ति या निवेश पर ध्यान न दिए जाने की दास्तान कहते हैं और बिना आपूर्ति व निवेश के बेहतर परिणामों की उम्मीद करना बेमानी हो जाता है।

पिछले पांच वर्षों में बजटों के माध्यम से कई वादे किए गए थे, कुछ को पूरा किया गया, तो कई को पर्याप्त संसाधनों नहीं मिले। उदाहरण के लिए, सीखने के अंतराल की पहचान करने के लिए, सरकार ने सभी 36 राज्यों/केंद्रशासित प्रदेशों के 701 जिलों के 1,10,000 स्कूलों के 20 लाख से ज्यादा छात्रों को शामिल करते हुए जिला स्तरीय राष्ट्रीय उपलब्धि सर्वेक्षण करने में सफलता हासिल की। वहीं, 2016 में, सरकार ने 62 नए जवाहर नवोदय विद्यालय स्थापित करने का प्रस्ताव दिया। हाल ही में, जवाहर नवोदय विद्यालयों में शैक्षणिक वर्ष 2019-20 के लिए 5000 सीटें बढ़ाने की एक और घोषणा की गई है जबकि 2019-20 के लिए बजटीय आवंटन 2017-18 में हुए वास्तविक खर्च से भी कम किया गया है। ऐसे में एक बड़ा सवाल यह मुंह बाए खड़ा है कि इन घोषणाओं को पार कैसे चढ़ाया जाएगा या फिर यह चुनावों के नक्कारे में एक तूंती की कराह मात्र बन कर रह जाने वाली हैं! ◆

प्रमोद

बाल-साहित्य में एक दशक का बदलाव

प्रभात से करिश्मा बाजपेई की बातचीत

प्रश्न : पिछले एक दशक में किस तरह के बदलाव आप बाल साहित्य में देखते हैं?

उत्तर : मैं पिछले एक दशक से भी पहले से अपनी बात शुरू करना चाहूंगा। बच्चों की पत्रिका 'पराग' के निकलने तक बाल साहित्य में कुछ सजग और कुछ नया काम हो रहा था। इसकी वजह उस पत्रिका को ऐसे संपादकों का मिलना था जो हिन्दी के बड़े लेखक थे। तो रचनाओं के चयन में एक दृष्टि नजर आती थी। लेकिन वह पत्रिका नब्बे के दशक में बंद हो गई। उसके साथ ही हिन्दी में बाल साहित्य पर जो कुछ ढंग का काम हो रहा था, वह ठप हो गया। लेकिन उसी दशक में एक अच्छी बात ये हुई कि एकलव्य से चकमक पत्रिका निकलने लगी और उसने हिन्दी बाल साहित्य में पराग के जाने से जो क्षति हुई थी उसकी भरपायी का काम किया। लेकिन चकमक की पहुंच कभी भी वैसी नहीं रही जैसी पराग की थी। फिर भी उसने बाल साहित्य की मशाल को थामने का काम किया। उसी दौरान राजस्थान में बालहंस पत्रिका भी निकल रही थी। अनंत कुशवाह उसके संपादक थे। जब तक वे संपादक रहे, बालहंस में बच्चों के लिए कुछ रोचक सामग्री मिलती रही। विजयदान देथा उर्फ बिज्जी की पुनर्लिखित अमर कहानी 'आशा अमरधन' उस पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इधर एकलव्य ने बच्चों के लिए बेहतरीन साहित्य के प्रकाशन की शुरुआत की। इसमें उन्होंने लोक कथाओं और स्थानीय भाषा में भी साहित्य प्रकाशित करने का खयाल रखा। वी सुतेयेव की किताबों के अनुवाद के लिए प्रकाशन करने के अधिकार एकलव्य ने लिए और बिल्ली के बच्चे, नाव चली, चूहे को मिली पेंसिल, रूसी और पूसी जैसी आधुनिक कहानियों का प्रकाशन किया। उन्नीस सौ चौरानवें में सत्यु का अभूतपूर्व उपन्यास 'अनारको के आठ दिन' राजकमल से आया। उन्नीस सौ अड़सठ में हिन्दी में प्रकाशित हुई बिज्जी द्वारा पुनर्लिखित लोक कथाओं की किताब 'अनोखा पेड़' के बाद, सत्यु का यह उपन्यास हिन्दी बाल साहित्य की एक बड़ी उपलब्धी है। निरंकार देव सेवक, दामोदर अग्रवाल, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नवीन सागर, रमेशचन्द्र शाह आदि कवियों की बेहतरीन किताबें अपने घिसेपिटे रूप में प्रकाशित होकर हिन्दी बाल साहित्य की धरोहर बनी रहीं। हां सफदर हाशमी की कविताओं की किताबें कल्पनाशील ढंग से नए कलेवर में प्रकाशित हुईं। प्रोफेसर कृष्ण कुमार एनसीईआरटी के निदेशक बने और उनकी देखरेख में कक्षा एक से पांच की रिमझिम नाम की भाषा की पाठ्यपुस्तकें बनीं। रिमझिम में जितने रचनात्मक ढंग से बाल साहित्य के चयन और प्रस्तुतिकरण का काम हुआ वह एक ऐतिहासिक काम था। कहना चाहिए कि पाठ्यपुस्तक के स्वरूप में होकर भी रिमझिम किताबें हिन्दी बाल साहित्य का सबसे सुंदर आगार हैं। तो हिन्दी बाल साहित्य के क्षेत्र में जो उल्लेखनीय बदलाव हुआ वह इस रूप में हुआ। बाकी बाल साहित्य के नाम पर कूड़ा कर्कट में डालने योग्य पत्रिकाओं और किताबों की एक धारा जो दूसरी ओर बह रही थी वह तो बह ही रही थी। उसकी जितनी कम चर्चा की जाए उतना अच्छा है।

प्रश्न : पिछले एक दशक में बाल साहित्य में विषयवस्तु संबंधी बदलाव को लेकर आप क्या सोचते हैं? यथास्थिति बनी हुई है या फिर विषयों का दायरा बढा है। अगर बढ़ा है तो किस रूप में। कुछ उदाहरणों के साथ अपनी बात स्पष्ट करें?

उत्तर : अगर अनुवाद की राह से हिन्दी में आई किताबों को भी इसमें शामिल कर लें तो विषयवस्तु को लेकर आए बदलाव उंगलियों पर गिने जाने लायक ही नहीं रह जाएंगे। एक लम्बी फेहरिश्त हिन्दी में उपलब्ध किताबों की हमारे पास होगी। जिसमें पहाड़ जिसे चिड़िया से प्यार हुआ, क्यों क्यों लड़की, बताओं मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूं, बरास्ता तरबूज, भेड़िये को दुष्ट क्यों कहते हैं, सिर का सालन जैसी एक से एक उम्दा किताबों के नाम लिए जा सकते हैं। लेकिन खुद हिन्दी में भी विषयवस्तु को लेकर कई उत्कृष्ट रचनाएं आईं। विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास हरी घास की छप्पर वाली झोंपड़ी और बौना पहाड़, एक चुप्पी जगह। प्रियंवद का कहानी संकलन मिट्टी की गाड़ी और उनका एक अद्भुत उपन्यास नाचघर। ये बिल्कुल नए तरह की विषय वस्तुओं के साथ हिन्दी में आए हैं। स्वयंप्रकाश की कहानियों की किताब 'प्यारे भाई राम सहाय' किशोरों के जीवन पर एक अलग ही रोचक किताब है। इसके अलावा चकमक में प्रकाशित हुई वरुण ग्रोवर की कहानियां भी ऐसी हैं कि हिन्दी बाल साहित्य में वैसी कहानियां पहले नहीं लिखी गईं। उनकी कोई भी कहानी पढ़ लीजिए वह चाहे पेपर चोर हो, चाहे रेडियो हो, चाहे हरिया विचित्तर हो। कृष्ण कुमार की 'पूड़ियों की गठरी' भी उल्लेखनीय किताब है।

कविताओं में सर्वेश्वर, नवीन सागर, सफदर हाशमी और गुलजार के बाद सुशील शुक्ल की कविताओं में आप विषयवस्तु का नयापन देख सकते हैं और जो बदलाव या नयापन होता है वह हिस्सों में या टुकड़ों में नहीं होता, वह पूर्णता में होता है। सुशील शुक्ल की कविताओं में जो नयापन आप देखेंगे तो वह ऐसा नहीं है कि केवल विषय का नयापन है। असल में उसमें कहन का भी नयापन है, भाषा का भी नयापन है। जैसे उनकी एक कविता है कि 'हरा धान का खेत हवा में चल चल कर घूमा, हर पौधे को गले लगाया हर पत्ता चूमा।' इसमें एक दृश्य अपने समूचे रस के साथ उपस्थित है। कवि द्वारा कह दिए जाने से उसमें मानवीय महसूसियत और भाषा का रस भी घुल गया है। सुशील की पापा का किचन भी एक कमाल की कविता है और चम्पा का फूल भी कि 'देर से मैं पहुंची स्कूल, एकदम चिल एकदम कूल, मास्टर जी ने गले लगाया और दिया चम्पा का फूल।' तो यहां आप देखिए कि बच्चे और शिक्षक के बीच दुर्लभ किस्म का अनुराग भरा रिश्ता भी संभव है, उसी के अनोखे सपने की ये कविता है।

गुलजार साहब के तो कहने ही क्या, वे जब भी बच्चों के लिए कुछ लिखते हैं हमेशा नया ही लिखते हैं। उनकी रचनाओं को पढ़ो तो बदलावों के लिए एक दशक जैसी सुदीर्घ अवधि के इंतजार की जरूरत ही न पड़े उनकी रचनाओं में हर बार कुछ बदल जाता है, वे समय के समानान्तर नई होती चलती हैं। उनकी रचनाओं के तो उदाहरण देने की भी जरूरत नहीं, बच्चों के लिए लिखी उनकी हर रचना अपने में एक अलग उदाहरण होती हैं। 'जंगल-जंगल बात चली है, पता चला है।' ऐसी संगीतमयी पंक्तियां उनके यहीं हमें मिलती है।

कथेतर में बात करें तो प्रियंवद की इकतारा बोले एक अच्छी किताब है। और हाल में शुरू हुई साइकिल पत्रिका में कृष्ण कुमार का यात्रा वृतांत 'संकरे बाजार में ऊंट' अगर किताब के रूप में आता है तो यह क्लैसिक रचना का दर्जा पाने वाली किताब साबित होगी।

प्रश्न : बाल साहित्य में भाषा को लेकर आये बदलावों के बारे में आप क्या सोचते हैं? क्या पिछले एक दशक में यह बदलाव बहुत स्पष्ट है या पहले की तरह ही भाषा का प्रयोग किया जा रहा है? कुछ उदाहरणों के साथ अपनी बात रखें।

उत्तर : जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूं, बदलाव हिस्सों या अलग-थलगपन में नहीं आता है, वह एक संपूर्णता में आता है। पर यह समझने की बात है कि जब हम कहते हैं भाषा में बदलाव तो उसके मायने क्या हैं? असल में कई चीजों के प्रभाव आपकी भाषा को बदलते हैं। विषयवस्तु भी आपकी भाषा को बदलती है। लेखक की अपनी निजी

दृष्टि भी रचना की भाषा को बदलती है। समय भी भाषा को बदलता है। नये विमर्शों का प्रभाव भी आपकी भाषा में आता है। तो बहुत-सी बातें होती हैं जिनके कारण भाषा निरन्तर बदलती है। पर कुछ मामलों में यह बात बिल्कुल उलट भी पड़ जाती है। कहते हैं न कि जहां फरिश्ते पांव रखने से घबराते हैं वहां बेवकूफ लोग सरपट दौड़ लगाते हैं। तो साहित्य में भी कुछ काम जो चालीस साल पहले जिस तरह से हो रहे थे, ठीक उसी तरह से आज भी हो रहे हैं। कोई-कोई होते हैं, जिन्हें जगत गति नहीं व्यापती। तो बाल साहित्य में कुछ पत्रिकाओं और कुछ प्रकाशनों की किताबों को देखकर उनके यथास्थितिवाद पर, उनके जड़ीभूत सौन्दर्यबोध पर हैरत होती है।

प्रश्न : जब भी हम बाल साहित्य लेकर बात करते हैं तो चित्रांकन एक बहुत अहम् आयाम नज़र आता है। आपकी नज़र में क्या यह महत्वपूर्ण है? पिछले एक दशक में चित्रांकन को लेकर किस तरह के बदलाव आप महसूस करते हैं?

उत्तर : आप तो खुद ही कह रही हैं कि बाल साहित्य में चित्रांकन एक बहुत अहम आयाम नज़र आता है। महत्वपूर्ण आयाम है तभी आप कह रही हैं। तो यह मेरी नजर में ही नहीं सबकी नजर में महत्पवूर्ण है।

देखिए आप राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित भीष्म साहनी, सर्वेश्वर, प्रयाग शुक्ल की किताबों के इलस्ट्रेशन देखें तो आप एक बार के लिए कह सकते हैं कि उस जमाने के लिहाज से शायद वे ठीक कह भी ली जाएं लेकिन आज की तारीख में वे भरती के ही चित्र कहे जाएंगे। सीबीटी, एनबीटी की कुछ किताबों में अच्छे इलस्ट्रेशन मिलते रहे हैं लेकिन अब वहां चित्रांकन को लेकर एक गिरावट देखी जा सकती है। बावजूद इस सबके अब स्थिति बहुत कुछ बदल चुकी है। अब कई प्रकाशन बेहद उम्दा चित्रों के साथ बच्चों की किताबों को प्रस्तुत कर रहे हैं।

इलस्ट्रेटर्स की पूरी एक खेप बाल साहित्य में काम कर रही है। जगदीश जोशी (एक डेढ साल पहले नहीं रहे), शुद्धोसत्व बसु, अतनुराय, तापोशी घोषाल, केरेन हैडॉक, एलेन शॉ, दुर्गाबाई से लेकर सुविधा मिस्त्री, प्रोइती राय, प्रिया कुरियन तक कितने ही नाम आप गिन सकते हैं। और नए से नए लोगों में देखें तो हबीब, शुभम, मयूख, नीलेश, प्रशांत सोनी, हरिओम, भार्गव कुलकर्णी, वृषाली जोशी इत्यादि कितने ही नाम हैं, इन सबके काम बाल साहित्य में जगह-जगह देखने को मिलते हैं। हिन्दी किताबों में, हिन्दी में अनुदित किताबों में और पत्रिकाओं में। चित्रांकन को लेकर ऐसा दृश्य बाल साहित्य में पहले नहीं था।

प्रश्न : पिछले एक दशक में मूल्य और उत्पादन संबंधी बदलावों को लेकर आप क्या सोचते हैं? यथास्थिति बनी हुई है या कुछ बदलाव आये हैं।

उत्तर : समझ सकता हूं कि मूल्य जब आप कह रही हैं तो जीवन मूल्य कह रही हैं। लेकिन मूल्य का एक अर्थ कीमत के संदर्भ में लिया जाता है। और उसकी भी बात करें तो कुछ हर्ज नहीं है। एनबीटी, सीबीटी की किताबों की कीमत आम आदमी की खरीद की जद में होती हैं। लेकिन तूलिका की किताबों की कीमत देखकर लेने का मन होते हुए भी वापस रख देने का मन करता है। डीजल, पेट्रोल के मूल्य सरीखे उनके मूल्य होते हैं। तो उन्हें मंहगी कार चला सकने में सक्षम वर्ग ही खरीद सकता है। वही खरीदता भी है। साइकिल स्कूटर पर चलने वाले वर्ग के लिए एकलव्य प्रकाशन एक उचित मूल्य की दुकान जैसा दिखाई देता है। यह सही है कि किताबें अच्छे कागज पर, अच्छे इलस्ट्रेशन के साथ, अच्छी साज-सज्जा में प्राप्त करनी हो तो कीमत बढ़ना लाजमी है। पर मुझे मालूम नहीं ऊंची कीमत वाली किताबें प्रकाशित करने वाले प्रकाशक अपने लेखक और चित्रकारों को भी वैसी रॉयल्टी देते हैं या नहीं।

अब आते हैं आपके जीवन मूल्यों वाली बात पर। जीवन मूल्यों के संदर्भ में बाल साहित्य में बदलाव तो आया है लेकिन वह प्रायोजित किस्म का सा बदलाव है। समावेशन या हाशिए के लोगों के प्रतिनिधित्व का खयाल अब बाल साहित्य में सोच-समझकर रखा जाने लगा है। लेकिन उसके पीछे एनजीओज की दृष्टि काम कर रही है। वह हिन्दी बाल साहित्य का स्वाभाविक हिस्सा नहीं बना है। विशेष आवश्यकता वाले बच्चे, दलित, स्त्री, आदिवासी, अल्पसंख्यक व अन्य वंचित समुदायों के प्रतिनिधित्व को सायास लाया जा रहा है। इसमें कोई बुरी बात भी नहीं है। लेकिन सवाल वही है कि

इन सबको बराबरी का प्रतिनिधित्व आखिर क्यों नहीं है। तो जो रचनाएं इन संदर्भों में आती भी हैं वे चूंकि सायास आती हैं तो उनमें एक किस्म की बनावट झलक ही जाती है। ईदगाह के जोड़ की या उसके आसपास की भी जीवन के रस से सिक्त कोई रचना क्यों नहीं मिलती है, सवाल यह है। पहाड़ जिसे चिड़िया से प्यार हुआ या बरास्ता तरबजू अनुपम रचनाएं हैं, जिनमें प्रेम का पर्यावरण है लेकिन ये रचनाएं हिन्दी की नहीं हैं, अनुवाद के जरिए आई हैं। तो सहज समाधी के लिए हिन्दी बाल साहित्य को अभी लम्बी दूरी तय करनी है।

प्रश्न : ऐसे कौनसे प्रकाशक हैं जो बाल साहित्य के क्षेत्र में बेहतर कर रहे हैं और वे किन अर्थों या किन रूपों में बेहतर कर रहे हैं?

उत्तर : प्रकाशकों के संदर्भ में मुझे प्रोफेसर कृष्ण कुमार के उदयपुर में दिए मशहूर भाषण का एक वाक्य याद आता है। उन्होंने कहा था प्रकाशन का उद्योग अगर उद्योगों में कहें तो भ्रष्टतम उद्योगों में से एक है। इस बात को थोड़ा और फैलाएं तो प्रकाशनों का भ्रष्टाचार केवल पैसे तक ही सीमित नहीं है। कौन लिखेगा, कौन चित्र बनाएगा तक भी जाता है। और जैसा कि मैंने पहले भी कहा लेखक, चित्रकार को कितना दिया जाएगा। कुछ दिया भी जाएगा या नहीं यहां तक भी जाता है। उम्दा जगहों पर कार्यशालाएं होती हैं, दूसरे शब्दों में एयर कण्डीशण्ड यात्राएं और ठहरने की व्यवस्थाएं होती हैं और बाल साहित्य देखें तो कैसा निकल कर आता है, निकृष्ट कोटि का। इन सब कारगुजारियों के चलते हिन्दी बाल साहित्य के अच्छे प्रकाशन गृह कहां से कहां पहुंच गए हैं, आप उनकी पिछले बरसों में प्रकाशित हुई किताबें देखकर जान सकते हैं। बढ़िया पैकेजिंग में बासी और नकली चीजें बेची जा रही हैं। देशी-विदेशी भाषाओं का कूड़ा कर्कट आ रहा है और हिन्दी में खपाया जा रहा है। हिन्दी में भी इतनी मात्रा में कूड़ा कर्कट उत्पादित किया जा रहा है कि इस सबको देखकर हिन्दी बाल साहित्य में कचरा प्रबंधन विभाग की सख्त जरूरत महसूस होती है। इस सब अंधेर के बीच कुछ अच्छे काम भी हो रहे हैं। जो बुरा कर रहे हैं, वे ही कुछ-कुछ अच्छा भी कर रहे हैं।

उत्पादन को लेकर दरियागंज से बाहर स्थिति काफी बदली है। दूसरी ओर जो काम सरकारों को करना चाहिए वे काम टाटा ट्रस्ट के पराग इनिशिएटिव जैसे कार्यक्रम कर रहे हैं। उनके अनुदान से एकलव्य व कुछ अन्य संस्थाओं द्वारा सुरुचिपूर्ण किताबों का प्रकाशन संभव हो पा रहा है। अगर बाल साहित्य में उत्पादन को केवल किताबों तक सीमित रखकर न देखें तो टाटा ट्रस्ट में अमृता पटवर्द्धन की परिकल्पना और पहल से दो कोर्स शुरू किए गए हैं जिनके जरिए बाल साहित्य में उल्लेखनीय काम हो रहा है। उनके द्वारा चलाया जा रहा एक कोर्स है रियाज एकेडमी। इसके तहत हर बरस बाल साहित्य के लिए चित्रकारों का एक समूह तैयार हो रहा है। दूसरा है लाइब्रेरी ऐजुकेटर्स कोर्स जिसके जरिए बच्चों के लिए पुस्तकालयों को कैसे पुनर्जीवित किया जाए और कैसे नए पुस्तकालय सृजित हों, इस दिशा में काम हो रहा है। इधर हाल ही में इकतारा संस्था के जुगनू प्रकाशन से बच्चों के सौ के आसपास कविता पोस्टरों, कविता कार्डों और कई उम्दा किताबों का कमाल का प्रकाशन हुआ है। इकतारा बाल साहित्य में हिन्दी के बड़े लेखकों को फैलोशिप दे रहा है जिससे कुछ बेहतरीन किताबें हिन्दी बाल साहित्य को मिली हैं। और हाल ही में साइकिल पत्रिका का प्रकाशन हुआ है, जिसमें हिन्दी के तमाम महत्वपूर्ण लेखकों विनोद कुमार शुक्ल, प्रियंवद, असगर वजाहत, अरुण कमल, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल, नरेश सक्सेना, कृष्ण कुमार, उदयन वाजपेयी, कृष्ण बलदेव वैद, अनामिका को पढ़ सकते हैं। हिन्दी बाल साहित्य में ऐसा पहले तो कभी नहीं हुआ था कि हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार बच्चों के लिए लिखने की जिम्मेदारी लें। उत्पादन को हमें इस नजरिए से भी देखना चाहिए कि अच्छे कागज और अच्छे इलेस्ट्रेशल और अच्छी साज सज्जा के साथ प्रस्तुत शब्दों में भी कुछ दम है कि नहीं। तो वह दम यहां नजर आता है। अगर ऐसा कुछ बरस चलता है तो हिन्दी बाल साहित्य का हांफना रुक जाएगा, सांस ठीक से चलने लगेगी।

प्रश्न : आजकल बदलाव बहुत तेज़ी से हो रहा हैं। यहां बदलाव से मेरा आशय बच्चों को लेकर समाज की सोच और बच्चों में हो रहे मानसिक बदलावों से है। जो बदलाव हम 10 सालों में महसूस करते थे वह आज 5 सालों में ही दिखाई देने लगता है, तो ऐसे में बाल साहित्य के भविष्य को आप कैसे देखते हैं?

उत्तर : समाज की सोच और बच्चों की सोच में बदलाव यह इतना व्यापक प्रश्न है कि जवाब के लिए सिरा कहां से पकड़ा जाए वह मुझे मुश्किल लग रहा है। समाज के एक हिस्से की सोच वही उपभोक्तावादी दौड़ में चाहे अनचाहे शामिल होने की है। समाज के एक बड़े हिस्से (किसान मजदूरों) के पास इन सब बातों के बारे में सोचने-विचारने की न तो फुर्सत है न उनके जीवन में इन आधुनिक किस्म के संस्कृति कर्मों के लिए जगह मुमकिन है। जीना एक कला भी है और जीवन को कलात्मक ढंग से जिया जाए इसके लिए कोई स्पेस कहीं नजर नहीं आता है बल्कि पारंपरिक स्पेस भी निरंतर सिकुड़ते, सिमटते और मिटते नजर आते हैं। बच्चों की सोच जाहिर है समाज से अलग नहीं होगी क्योंकि उनकी अलग सोच को विकसित होने के कोई अवसर रचे ही नहीं जाते हैं। तेजी से हुए बदलावों ने शहरी बच्चों को मोबाइल थमा दिया और ग्रामीण और शहरी निर्धन बच्चों को छिपी हुई बेरोजगारी के धूल-धूसरित चरित्रों में बदल दिया है। बेरोजगारी से त्रस्त पालकों के पास अपने और अपने बच्चों के लिए एक झुंझलायी और उकतायी हुई सोच से अधिक क्या होगा, मुझे समझ में नहीं आता है। कुछ बेरोजगार पालक बच्चों के लिए गलियों में स्कूल खोल लेते हैं, इससे उन्हें अपने बच्चों के अलावा दूसरों के बच्चों को भी पीटने का अवसर मिल जाता है। इससे अधिक क्या है। छोटे बच्चों को मुसलमानों और पाकिस्तान के विरोध में बोलते हुए आसानी से सुना जा सकता है। ऊंची जातियों के बच्चों को नीची कही जाने वाली जातियों के बच्चों से गाली-गलौंच करते हुए सुना जा सकता है। ऐसे में बाल साहित्य के भविष्य की बात छोड़िए बाल साहित्य के लिहाज से फिलहाल तो उनका वर्तमान ही कुछ नहीं है। बाल साहित्य को लेकर ऊपर जो कुछ उजली पंक्तियां आई हैं वे या तो किताबों के प्रकाशन तक सीमित हैं या कुछ एनजीओज द्वारा चलाए जा रहे शैक्षिक कार्यक्रमों की जद में आने वाले बच्चों तक सीमित है। सम्पूर्ण समाज के बच्चों के बीच बाल साहित्य की व्याप्ति अभी दूर की बात है। ◆

प्रभात : राजस्थान के जाने-माने युवा कवि हैं। एकलव्य, भोपाल; रूम टू रीड, इण्डिया एवं अन्य प्रकाशनों से बच्चों के लिए कविता-कहानियों की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। वर्तमान में शिक्षा के क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे हैं।

संपर्क : 9460113007; prabhaaat@gmail.com

करिश्मा बाजपेई : मध्य प्रदेश में यूनिसेफ की कंसल्टेंट रही हैं। वर्तमान में शिक्षा में स्वतंत्र रूप से कार्यरत हैं।

संपर्क : 9755380877; karishmamahendru@yahoo.co.in

शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-V

नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोण

अमन मदान
अनुवाद : वर्षा

शिक्षा के परम्परागत मार्क्सवादी समाजशास्त्र की तुलना में नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहीं अधिक आशावादी है। उनका यह मानना है कि हालांकि यह सच है कि शिक्षा के लक्ष्य और कक्षा के मसले बाजार के दबाव से गहराई से प्रभावित होते हैं, फिर भी इस बात में बहुत सम्भावना है कि शिक्षक छात्रों को केवल मुनाफा कमाने वाली मशीन ही नहीं बल्कि एक बेहतर इंसान बनाने में बड़ी भूमिका निभा सकते हैं। पिछले लेख में जिन मार्क्सवादी विद्वानों की चर्चा की गई थी वे परम्परागत तरीके से यही कहते हैं कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था ने स्कूलों और उनके ऐजेण्डे पर प्रभुत्व जमा लिया है। लेकिन माइकल एप्पल, स्टेनली ऐरोनोविट्ज और हेनरी गिरुक्स जैसे नव-मार्क्सवादियों का यह मानना है कि इस खेल में केवल पूंजीवाद ही एकमात्र खिलाड़ी नहीं है। यहां अन्य खिलाड़ी भी हैं, जैसे संस्कृति और राजनीति के क्षेत्र हैं और ये पुराने मार्क्सवादी चिंतन की जगह स्कूलों और शिक्षकों को एकदम अलग दिशाओं में जाने में मदद कर सकते हैं।

इन नव-मार्क्सवादियों का सबसे प्रमुख आयाम संभवतः उनका इस बात पर जोर देना है कि लोगों के पास सापेक्षिक स्वतंत्रता होती है। शिक्षक, प्रधानाध्यापक और स्कूल की पाठ्यपुस्तकें इंजीनियर बनने और बड़ी कम्पनियों में काम करने की आकांक्षा रखने के बारे में पूरे जोर-शोर से बात कर सकते हैं, लेकिन इसके बावजूद एक छात्रा स्वयं पर मन ही मन मुस्कुरा सकती और यह सोच सकती है- लेकिन मैं तो एक ऐसी पर्यावरणवादी होना चाहती हूं जो प्रकृति की गोद में रहती है, और वह इंसान और शेष दुनिया के बीच एक स्वस्थ संबंध का पोषण करने में सालों बिता सकती है। शेष समाज उसे पीछे धकेलेगा और उसे इस अजनबियत का अहसास कराएगा कि वह एक ऐसी पराई व्यक्ति है जो अपने अन्य दोस्तों और परिवार के सदस्यों की तरह ज्यादा से ज्यादा उपभोग नहीं करना चाहती है। समकालीन पूंजीवाद इसी बात पर टिका हुआ है कि लोग लगातार उन मालों और सेवाओं को खरीदने का आग्रह करते रहें कि जिनकी उन्हें जरूरत नहीं थी। लेकिन लोग थोड़ी देर ठहर कर खुद से पूछ सकते हैं क्या यही वह चीज है जिसकी वे तमन्ना करते हैं। उनका दिल जिसकी कामना करता है, वह उनमें शामिल हैं- जो वे यू ट्यूब में देखते हैं, जिन किताबों को वे पढ़ते हैं, उनसे टकराने वाले ऐक्टिविस्ट संगठन उनसे जो कहते हैं आदि, आदि। पुराने मार्क्सवादी हमारी संस्कृति, हमारे स्कूलों और स्कूल से निकलने के बाद हम क्या करेंगे इसके विषय में हमारी उम्मीदों पर पूंजीवादी तौर तरीकों के नियंत्रण के बारे में जोर देते नजर आते हैं। इसके विपरीत, नव-मार्क्सवादियों ने कहा कि पारम्परिक मार्क्सवादी जो कहते थे वह सच था, मगर फिर भी हमारे पास उन व्यवस्थाओं पर तर्क करने की क्षमता है जो हमारे ऊपर प्रभुत्व जमाती हैं। खास तौर से संस्कृति का क्षेत्र एक ऐसी जगह थी जहां लोगों ने अपने विचारों और सोचने के उन तरीकों की सर्जना की जो पूंजीवाद के मिजाज के खिलाफ जा सकते थे।

अंतोनियो ग्राम्शी स्कूलीकरण पर नव-मार्क्सवादी चिंतन के विकास के लिए एक शुरुआती प्रेरणा थे। बहुत पहले, उन्होंने लिखा था कि मार्क्स के आर्थिक लेखन को एक प्रत्यक्षवादी (positivist) तरीके से देखना गलत है। यानी उन्हें सिद्धांतों के ऐसे समूह के रूप में देखना जहां आर्थिक सिद्धान्तों का इस्तेमाल भविष्यवाणी करने के लिए किया गया। इसके बजाय, हम ऐसे जीवित, सांस लेने वाले इंसान थे जिनके शुद्ध आर्थिक हितों के अलावा भी अनेकों हित एवं सरोकार थे। हमने अपने परिवेश से संवाद किया और उस संवाद के आधार पर विचारों को निर्मित किया। इसके परिणामस्वरूप बनी समझ इतिहास को नई रोचक दिशाओं में आकार देती गई। लुई अल्थूसर एक और ऐसे शख्स थे, जिन्होंने तर्क किया कि आर्थिक के अलावा अनेकों ऐसे तत्व थे, जिसने स्कूल को प्रभावित किया। उन्होंने अन्य चीजों के अलावा धर्म, मीडिया, और स्कूलीकरण के प्रभाव की ओर इशारा किया। इन विचारों के कारण बहुत से लोगों ने यह कहना शुरू किया कि यह जरूरी नहीं है कि शिक्षा व्यवस्था में सुधार करने के लिए हम पूंजीवाद को उखाड़कर फेंकने का इंतजार करें। इसके बजाय, संस्कृति का क्षेत्र उन विकल्पों के निर्माण की ताकत दे सकता है और जो अधिक मानवीय और गैर शोषणकारी हैं। लोग उदाहरणों, अनुभवों, गीतों लेखों, विडियो को आपस में साझा करने के लिए एकजुट हो सकते हैं। यह विकल्प उनके समूह की एकजुटता से और गतिशील हो सकता है और शिक्षा संबंधी उनकी नई दृष्टि को जीवन्त कर सकता है। निश्चित रूप से, पूंजीवादी अर्थव्यस्था और काम का शोषणकारी चरित्र अभी भी एक समस्या थी तथा उसको अंततः पूरी तरह से बदले जाने की जरूरत थी। लेकिन परिवर्तन के लिए केवल इंतजार करते रहने की जरूरत नहीं थी।

इंसान होना जिन्दा होना है

पाउलो फ्रेरे के काम एवं लेखन बहुत अच्छी तरह से नव-मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को उजागर करते हैं। फ्रेरे ने कहा था कि इंसान होने की प्रमुख चीज है जीवन्त होना, अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया देना, इसके बारे में सोचना, चयन करना और काम करना। कक्षा में जिन छात्रों को बोलने का अवसर मिलता है और अपने मन की चीजों को कहने का अवसर मिलता है, उन्हें ऐसी कक्षा में रहना रुचिकर लगने लगता है। वे शिक्षक जो नए विचारों और समस्या को समझने के नए तरीकों का निर्माण करते हैं वे इस खुशी का अहसास कर सकते हैं कि एक इंसान होना क्या होता है। कक्षा से बाहर के जीवन में भी अपने मुद्दों से जुड़ना और उनका हल ढूंढना, जीवित रहने का सार है। लेकिन इसमें तब बाधा पहुंचती है जब कोई व्यक्ति किसी दूसरे की सत्ता के अधीन रहने लगता है। अगर किसी से यह कहा जाता है कि अपनी जाति के कारण तुम एक मंदिर में नहीं घुस सकते, अथवा एक महिला होने के कारण तुम गणित नहीं पढ़ सकती, ऐसे में हमारी मानवता दब जाती है और कुचली जाती है। एक मजदूर जो सारा दिन उबाऊ और दोहराव वाले कामों को करता रहता है, इससे उसके भीतर की जीवन्तता खत्म हो जाती है। ऐसी समाज व्यवस्था जो अपने से नीचे समूह को दबाती है, वह उन्हें इंसान बनने के मौके देने से इंकार कर देती है। पर्याप्त खाना ना मिलना अथवा पर्याप्त संसाधन ना मिलना, सम्मान का ना होना, इन सबसे जीवन की वह चमक बुझ जाती है जो हमारे लिए जरूरी है।

जिस तरीके से हम पढ़ाते है और सीखते हैं वह अक्सर शोषणकारी और अमानवीय हो सकता है। खासतौर से, ऐसी स्थिति में जब शिक्षा पर ताकतवर सामाजिक समूहों का नियंत्रण होता है और उनका आशय अन्य सामाजिक समूहों को अपने अधीन रखना होता है। तब वे, सीखने के ऐसे तरीके इजाद करते हैं जो इंसानों के लिए, उन विचारों और व्याख्याओं के निर्माण की संभावना से इंकार कर देते हैं, जो वास्तव में उनके जीवन के मुद्दों से संबंधित होते हैं। यह उस ओर ले जाती है जिसे मार्क्सवादी परम्परा छद्म चेतना का निर्माण कहती है और अंततः जिसे ग्राम्शी ने वर्चस्व का निर्माण (Hegemony) कहा था। संस्कृतियों का निर्माण वहां होता है जहां जनता केवल अपने परिवेश की बुद्धिमान प्रेक्षक ही नहीं रह जाती, बल्कि वह अपनी समस्याओं के हल के लिए खुद सक्रिय तरीके से रास्ता तलाशने लगती है न कि ऐसे लोगों की तरह जहां लोग प्रभुत्वशाली समूहों की समस्याओं के समाधान के लिए ताकतवर लोगों दवारा

निर्मित विचारों और सस्कृतियों के अंधभक्त बन जाते हैं। इससे जनता की अपनी क्षमताओं और मानवीय सम्भावना का निषेध होता है। फ्रेरे के अनुसार हमारी शिक्षा व्यवस्था अक्सर यही करती है।

अपनी प्रसिद्ध किताब ''उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र'' में फ्रेरे ने जिसे वह शिक्षा का बैंकिग मॉडल कहते हैं की तुलना शिक्षा के मुक्तिदायी मॉडल से की है। उनकी किताब से लिए गये अंश नीचे दिये गये हैं जिन्हें अनेकों जगह पर उदधृत किया गया है और इन्हें युनिसेफ द्वारा वितरित पोस्टरों में भी दिया गया था। लेकिन इसे यहां एक बार फिर से लिखना जरूरी है। बैंकिंग मॉडल वाली शिक्षा के बारे में वह कहते है,

''शिक्षक पढ़ाते हैं, छात्र पढ़ते हैं।

शिक्षक सब कुछ जानते हैं और छात्र कुछ भी नहीं।
शिक्षक सोचते हैं और छात्र उनके सोचे हुए के बारे में सोचते हैं।
शिक्षक बोलते है, और छात्र चुपचाप सुनते हैं।
शिक्षक अनुशासित करते हैं, और छात्र अनुशासित होते हैं।
शिक्षक चयन करते हैं और अपने चुनाव को थोपते हैं, और छात्र उसका पालन करते हैं।
शिक्षक कार्यवाही करते हैं और छात्र इस भ्रम में रहते हैं कि वे शिक्षक की कार्यवाही के जरिए कार्यवाही कर रहे हैं।
शिक्षक कार्यक्रम की विषयवस्तु का चयन करते हैं और छात्र उसको ग्रहण कर लेते हैं।
शिक्षक छात्र की स्वतन्त्रता के खिलाफ, ज्ञान के आधिपत्य को अपने खुद के पेशेवर आधिपत्य से भ्रमित करते हैं।
शिक्षक सीखने की प्रक्रिया का विषय होता है जबकि छात्र केवल वस्तु होते है।''

-- फ्रेरे (2005 : 73)

शिक्षा का बैंकिंग मॉडल वह है जहां छात्रों को निर्जीव कर दिया जाता है और ज्ञान को उनमें इस तरह निवेशित किया जाता है जैसे कि कोई व्यक्ति एक निर्जीव डिब्बे में पैसे डालता है। लेकिन यह लोगों की फितरत के हिसाब से सही नहीं था। वे चीजों के बारे में सोचना चाहते थे, अपनी खुद की व्याख्या करना चाहते थे और अपना चयन खुद करना चाहते थे। यह सत्ता की बड़ी व्यवस्थाओं के लिए बहुत खतरनाक था जैसे पूंजीवाद अथवा जाति व्यवस्था अथवा यहां तक कि पितृसत्ता। इसलिए शिक्षा व्यवस्था ऐसी बनी जिसने वर्चस्ववादी विचार सिखाए और लोगों को सवाल पूछने से हतोत्साहित किया। फ्रेरे ने तर्क किया कि शिक्षा के बैंकिग मॉडल के बजाय शिक्षकों को शिक्षा की समस्या केन्द्रित मॉडल के निर्माण का प्रयास करना चाहिए। इसमें छात्रों को स्वयं सोचने के लिए आमंत्रित करना चाहिए। उनके सामने धीरे-धीरे ऐसी जटिल समस्या रखनी चाहिए जो उनके सामाजिक और पर्यावरणीय परिवेश को प्रतिबिम्बित करती हो और उनके हल तलाशने के तरीकों को प्रोत्साहित करना चाहिए। यह एक संपूर्ण मानव के निर्माण का रास्ता था ना कि केवल वेतन भोगी रोबोट बनने का।

संस्कृति : संघर्ष के एक क्षेत्र के रूप में

ज्यादातर शिक्षक, छात्र और प्रशासकों को जब अपनी-अपनी संस्थाओं और बाहरी दुनिया में सत्ता के ढांचों का सामना करना पड़ा तो आमतौर पर उन्होंने अपनी आजादी की भावना को दबा दिया, अपनी पहल कदमी खो दी और समाज में प्रभावी धारा का महज अनुसरण करने लगे। खुद चिन्तन करने की बजाय हम उन विचारों का अनुसरण करने लगे जिन्हें प्रबंधकों ने अपनी सुविधा और मजदूरों को नियंत्रण में रखने के लिए गढ़ा था, जिसे पुरुषों ने ऐसी समाज व्यवस्था को बनाए रखने के लिए निर्मित किया था जिसमें औरतें उनकी सेवा करें, जिन्हें प्रभुत्वशाली जातियों ने दूसरी जातियों को अपने अधीन रखने के लिए उपयोगी पाया था। नव-मार्क्सवादियों का मानना था कि आंशिक रूप से ऐसा उस संस्कृति के कारण था जो हमारे समयों में निर्मित हुई थी। हम हमेशा उन तस्वीरों और कहानियों से घिरे हुए थे जो हमें उस दिशा में जाने के लिए ललचाते रहते थे जिसके बारे में दूसरे लोग बात करते प्रतीत होते थे। फिल्मों

और टीवी सीरियलों में ''अच्छे'' व्यक्ति कुछ खास तरह के कपड़ों में दिखाई देते थे जो ऑफिसों में कम्प्यूटरों पर काम करते होते थे। यह माना जाता था कि औरतें एक खास तरह की दिखाई देती थीं और पुरुष दूसरी तरह के। ऐसा लगता था कि दलितों का कोई अस्तित्व ही नहीं हैं। क्या इससे यह साफ हो नहीं जाता कि स्कूलों का जीवन किस तरफ जा रहा था? हमारे चारों तरफ ऐसी प्रचार सामग्री भरी हुई थी जो हमें बताती थी कि शानदार प्रतियोगी परीक्षाएं ही सफलता, सम्मान और कैरियर का रास्ता थीं। यही बात हमारे पड़ोसी भी हमसे कहते थे। हमारी इच्छा को झुकाने और हमें कुछ खास तरीके के काम करने और दूसरे न करने देने के लिए संस्कृति की भूमिका जबरदस्त थी।

नव-मार्क्सवादियों ने इसका दूसरा पहलू भी देखा : यदि हम दुनिया को बदलना चाहते हैं तब उस लड़ाई का अधिकांश संस्कृति के क्षेत्र में ही लड़ना होगा। अर्थव्यवस्था और कुछ वर्गों द्वारा दूसरे वर्गों का शोषण बहुत महत्वपूर्ण था। किन्तु सिर्फ यही संघर्ष का क्षेत्र नहीं था। संस्कृति के भीतर स्वायत्तता की बड़ी गुंजाइश होती है क्योंकि हम केवल भौतिक परिस्थितियों की कठपुतलियां मात्र नहीं होते हैं। हम गीतों में, शिक्षा में, पाठ्यपुस्तकों में, फिल्मों में एक दूसरी तरह की तस्वीरों और कहानियों को चित्रित कर सकते हैं जिसमें लोग शोषण से मुक्त हों। इसके जरिये लोग यह विश्वास करना शुरू कर सकते हैं कि मजदूर अपने आप सफल कॉपरेटिव बना सकते हैं, यह संभव है कि औरतें अपनी जिन्दगी और अपने शरीर पर नियन्त्रण रख सकें और यह भी संभव है कि जाति की श्रेणीबद्धता से निकला जा सके।

नव-मार्क्सवादियों का मानना था कि सच यह है कि लोग वास्तव में कई तरह से सामाजिक प्रभुत्व को चुनौती देते हैं। मार्क्सवादी विचार की एक बुनियादी अवधारणा है ''सामाजिक पुनरुत्पादन''। इसका मतलब है कि पूंजीवाद को अपनी निरन्तरता बनाए रखने के लिए एक खास तरह की संस्कृति की निर्मिति की जरूरत होती है, चीजों की ओर एक खास तरीके से देखे जाने की जरूरत होती है, और खास तरीके के लोगों की जरूरत पड़ती है आदि, आदि। शिक्षा में काम करने वाले परम्परागत मार्क्सवादी समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक पुनरुत्पादन की यह जरूरत ही स्कूलों को पूंजीवाद की नौकरानी बना कर रख देती है। लेकिन नव-मार्क्सवादियों ने इस बात पर जोर देना शुरू किया कि यहां बहुत सारे अवसर भी हैं जिन्हें वे ''प्रतिरोध'' (Resistances) कहते थे। बहुत से स्कूलों में आप बहुत से ऐसे लोगों को पाएंगे जो वास्तव में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दबाव का अनुसरण नहीं करते।

इसका एक क्लासिक उदाहरण पॉल विलिस की किताब *लर्निंग टू लेबर* (1977) में दिया गया है। विलिस ने एक ऐसे हाईस्कूल में नृवंशविज्ञानिक (Ethnographic) काम किया जहां मजदूर वर्ग के छात्र पढ़ते थे। विलिस ने दर्शाया कि परम्परागत मार्क्सवादियों द्वारा पेश तस्वीर जिसमें स्कूल और छात्र पूंजीवाद के निर्देशों पर नाचते हैं, उससे यहां जो कुछ हो रहा था, वह मेल नहीं खाता था। उन्होंने उन छात्रों का अध्ययन किया जो बहुत विद्रोही और ''शैतान'' थे और कहा कि वस्तुतः उन्होंने स्कूली सफलता के उस पूंजीवादी संस्करण को नकार दिया था जिसके कारण वे किसी कम्पनी में एक ऊंची नौकरी पाने योग्य हो सकते थे। वे एक आदर्श जीवन के इस तरह के चित्रण की भर्त्सना करते थे और उन छात्रों और शिक्षकों पर हंसते थे जो इसका समर्थन करते थे। वे उनका मजाक उड़ाते हुए उन छात्रों को इयरओल्स (कानखजूरे) कहते थे जो शिक्षकों और स्कूल द्वारा कहे जाने वाली हर बात को जस का तस स्वीकार कर लेते थे। विलिस ने स्पष्ट तौर पर यह कहा कि पूंजीवाद के पुनरुत्पादन की यह कोई सामान्य प्रक्रिया नहीं है जो स्कूलों में होती है। इसके बजाय, हमें एक प्रतिरोध की जटिल प्रक्रिया के रूप में इसका सैद्धान्तीकरण करना चाहिए था। हालांकि जो इन बच्चों के संदर्भ में किसी विकल्प के निर्माण की ओर नहीं ले जा पाया क्योंकि अंततः वे फैक्ट्रियों में काम करने चले गये जहां वे अभी भी काम कर रहे थे। वे श्रेणीबद्धता के सबसे निचले स्तर पर अकुशल और शारीरिक श्रम करने वाले मजदूर के रूप में बने रहे। विलिस ने पूंजीवादी दौर में स्कूलों के अन्दर संस्कृति की भूमिका को समझने के लिए कहीं अधिक परिष्कृत तरीके अपनाए जाने की बात की। लोग कठपुतलियां नहीं होते, वे अपने विचारों और रास्तों को खुद बनाते हैं लेकिन यह सब हमारे समाज में पूंजीवाद की वृहत्तर प्रक्रिया द्वारा नियन्त्रित और निर्देशित होती है।

स्कूलों में पुनरुत्पादन और प्रतिरोध

आज स्कूलों द्वारा जिन चुनौतियों का सामना किया जा रहा है उन्हें समझने में नव-मार्क्सवादियों का योगदान प्रमुख है। इस सामान्यीकृत समझ जिसमें स्कूलों को फैक्ट्री की जरूरतों के अनुसार व्याख्यायित किया गया, से अलग जाकर उन्होंने उन तमाम सांस्कृतिक प्रवृत्तियों को चिह्नित किया जिससे स्कूलीकरण प्रभावित होता था। इसमें उन्होंने प्रतिरोधों की एक शृंखला को भी चिन्हित किया और अब स्कूलों को बहुत सारे संघर्षों के क्षेत्र के रूप में देखा जाने लगा। उन्होंने उस एक महत्वपूर्ण संस्कृति की बहुत तीखी आलोचना की जिसे प्रबंधनवाद के रूप में जाना जाता है। यह प्रवृत्ति बढ़ रही है जिसमें स्कूलों को चलाने के लिए फैक्ट्रियों और ऑफिसों के प्रबंधकों से लिए गए विचारों का इस्तेमाल हो रहा है। स्कूलों के बारे में चिन्तन के क्षेत्र में प्रबंधकों की संस्कृति प्रभावी होती जा रही है जो धीरे-धीरे शिक्षकों और शिक्षाविदों की संस्कृति को निगल रही है। प्रबंधनवाद ऐसे विचारों को ला रहा है जिसमें मजदूरों की उत्पादकता को नाप कर उन्हें वेतन दिया जाता है, इस विचार को स्कूलों को चलाने में लागू किया जा रहा है। दूसरे शब्दों में वे कहते हैं कि शिक्षकों को इस आधार पर वेतन दिया जाना चाहिए कि उनके छात्र कितना अंक पाते हैं। शिक्षकों द्वारा रिकार्ड रखने का काम बढ़ता जा रहा है ताकि शिक्षक क्या करते हैं क्या नहीं करते, इस पर नजर रखी जा सके। यह उसी तरह है जैसे कि विस्तृत रिकार्ड रखने के काम द्वारा यह सुनिश्चित किया जाता है कि सेल्स के लोग अपना समय बरबाद करने की बजाय ग्राहक के पास जाते रहें। शिक्षकों के साथ फैक्ट्री के एक मजदूर की तरह ही व्यवहार किया जाता है। ऐसा समझा जाता है कि उनके पास दिमाग ही नहीं है। अपना दिमाग लगाने की उन्हें कोई जरूरत ही नहीं है। इसके बजाय, यह मालिकों और प्रबंधकों का काम है कि वे उनके दिमागों का इस्तेमाल करें और वे उस व्यवस्था के तहत काम करें जिसे ऊपर के लोगों ने तैयार किया है। इस विचार की बहुत कम मान्यता है कि शिक्षक अगली पंक्ति में काम करते हैं जहां वे छात्रों के साथ एक जटिल सांस्कृतिक काम में लगे होते हैं। छात्र विभिन्न पृष्ठभूमियों से आते हैं और शिक्षकों को उनके साथ एक परिष्कृत संवाद की जरूरत होती है, इस विचार को नहीं समझा जाता।

हेनरी गिरुक्स और माईकल एप्पल जैसे नव-मार्क्सवादियों के अनुसार शिक्षकों को महज शिक्षित मजदूर नहीं समझा जाना चाहिए जो कक्षा में आकर महज बटन दबाते हैं। इसके बजाय, हमें बुद्धिजीवी शिक्षकों की जरूरत है। वस्तुतः उन्हें इस तरीके से शिक्षित और तैयार किया जाना चाहिए जिससे वे ''परिवर्तनकारी बुद्धिजीवी'' बन सकें। उनके अन्दर ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि वे उन परिस्थितियों के जटिल सांस्कृतिक वातावरण को समझ सकें और जिन पृष्ठभूमि से बच्चे आते हैं उनके साथ अपना व्यवहार कर सकें। उन्हें पाठ्यचर्या को अपनाने योग्य होना चाहिए और छात्रों के जीवन के लिए उसकी प्रासंगिकता के अनुसार उसे लगातार परिष्कृत करने की योग्यता होनी चाहिए। उन्हें यह जानना चाहिए कि विभिन्न पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों के साथ कैसे संवाद बनाया जाए। स्कूल लगातार पूंजीवाद, पितृसत्ता, क्षेत्रवाद, जाति और नस्लवाद जैसी चीजों के दबाव में होते हैं। इससे यह और भी महत्वपूर्ण हो जाता है कि हम शिक्षकों में आलोचनात्मक चिन्तन की क्षमता को विकसित करें। केवल तभी, वह इस योग्य हो पाएंगे कि वे इन ताकतों के खिलाफ खड़े हो सकें और बच्चों को इस तरीके से तैयार करने योग्य हो सकें जिससे एक बेहतर कल का निर्माण किया जा सके। यदि ऐसा नहीं होता है तो वे बहाव के साथ ही बह जाएंगे। खड़े होने और शक्तिशाली संस्कृतियों से सवाल करने योग्य होने के लिए शिक्षकों में मजबूत चिन्तन की आदत होनी चाहिए और उन्हें सैद्धान्तिक कामों की अच्छी जानकारी होनी चाहिए जिससे वे तात्कालिक परिघटनाओं के पीछे की चीजों को भी देख सकें।

भारत में शिक्षा की पुनर्कल्पना

बहुत से भारतीय समाज वैज्ञानिकों के लेखन में भी नव-मार्क्सवादी परम्परा की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। खासतौर से उनके लेखन रोचक हैं जो इस बात की पुनर्कल्पना करने का प्रयास करते हैं कि हमारी शिक्षा कैसी होनी चाहिए।

यह एक कठिन काम है। नव-मार्क्सवादी जो कहते हैं, यदि वह सच है और वास्तव में शिक्षा व्यवस्था बहुत सी सत्ता व्यवस्थाओं जैसे पूंजीवाद, पितृसत्ता और जाति के केन्द्र में है तो कोई भी उनके इस शिकंजे से निकल कर एक ताजी कल्पना करने योग्य कैसे हो सकता है? हम अपने आसपास के लोगों से नई कल्पना के निर्माण के कार्यभार और रोजमर्रा की जिन्दगी को नए तरीके से जीने के लिए ताकत ग्रहण करते हैं। चाहे वह उनकी भौतिक उपस्थिति के रूप में हो या उनकी रचनाओं या उनके वीडियो के रूप में हो जो इस बात का उदाहरण पेश करते हैं कि उस चीज से मुक्त होना कैसे सम्भव है, जिसके लिए ताकतवर लोग हमें सोचने के लिए मजबूर करते हैं। यहां, मैं संक्षेप में ऐसे केवल तीन विद्वानों कृष्ण कुमार, शर्मिला रेगे और अविजित पाठक का जिक्र करूंगा। वे अपने आपको चाहे नव-मार्क्सवादी मानते हों या न मानते हों लेकिन उनके काम में नव-मार्क्सवादी परम्परा से काफी समानता मिलती है।

कृष्ण कुमार

कृष्ण कुमार जिन्होंने छात्रों और सहयोगियों की कई पीढ़ियों को प्रेरित किया है, वह अभी हाल में ही दिल्ली विश्वविद्यालय के सेन्ट्रल इंस्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन के एक प्रोफेसर के पद से सेवानिवृत्त हुए हैं। कृष्ण कुमार विभिन्न तरीके के विचारों से प्रभावित रहे हैं जिसमें शामिल हैं- औपनिवेशिक शासन के खिलाफ भारतीय जनता का प्रतिरोध और उपनिवेशवाद के अन्दर संस्कृति के क्षेत्र में हुए संघर्ष। वे दो किताबें जिन्हें मेरी समझ से शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाले सभी लोगों को पढ़ना चाहिए उनमें से एक किताब कृष्ण कुमार ने लिखी है। अपनी किताब *पोलिटिकल एजेण्डा ऑफ एजुकेशन* में वह कहते हैं कि ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारत की अपनी सामाजिक असमानताओं के साथ मिल कर काम करते हुए एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था बनाई जिसने छात्रों को मौन कर दिया। इस शिक्षा व्यवस्था का सबसे बड़ा सरोकार छात्रों को चुप कराना और अनुशासित करना था न कि छात्रों को स्वतंत्र चेतन तरीके से बोलने देना और उन्होंने जो सीखा है उस पर आलोचनात्मक तरीके से चर्चा करने देना। उनमें शिक्षकों और छात्रों का भय था और उस चिन्तन का एक भय व्याप्त था जो उनके माध्यम से सामने आ सकता था। इसका दमन करना ब्रितानी के साथ ही भारतीय शासक समूहों का भी एजेण्डा था। हालांकि यह एक मात्र चीज नहीं थी जो ब्रितानी लोगों द्वारा बनाई गई इस शिक्षा व्यवस्था में घटित हुई। कृष्ण कुमार ने चिह्नित किया कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के महान नेता इसी शिक्षा व्यवस्था से निकले थे और कई तो अध्ययन के लिए ब्रिटेन भी गए थे। औपनिवेशिक शासन से निकली आज की शिक्षा व्यवस्था में भी आलोचनात्मक उन्मुखता के निर्माण की सम्भावनाएं है।

कृष्ण कुमार कहते हैं कि ऐसी शिक्षा जो चुप रहने पर जोर देती है, औपनिवेशिक शासन को वैधानिकता प्रदान करती है तथा किसानों और मजदूरों का शोषण करती है, को सबसे बड़ी चुनौती नई तालीम की गांधीवादी परम्परा से मिली। इसने थोड़े समय के लिए आम आदमी के काम को शिक्षा का आधार बनाने का प्रयास किया। इसने कृषि और दस्तकारी का इस रूप में प्रयोग किया जहां छात्र इससे सीख सकें और इस पर अपनी प्रतिक्रिया दे सकें तथा ज्ञान के समकालीन रूपों को सीख सकें। हालांकि, राष्ट्र के आधुनिकीकरण के शिक्षा विमर्श और बांध बनाने व उद्योग लगाने की इच्छा ने इससे किनारा कर लिया। भारत के बढ़ते मध्यवर्ग के लिए दस्तकारी और कृषि की शिक्षा का बहुत कम उपयोग था। यह वर्ग जिन संस्थानों पर नियंत्रण रखता था उसने इन्हें दूसरे वर्गों की संस्कृतियों और हितों के खिलाफ खड़ा कर दिया।

अविजित पाठक

अविजित पाठक जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेन्टर फॉर द स्टडी ऑफ सोशल साइंसेज में प्रोफेसर हैं। विकास और शिक्षा पर उनका लेखन जाना माना है। वे अखबारों और ऑन लाइन प्रकाशकों जैसे *द न्यू लीम* और *द वायर* में खूब लिखते हैं। उनकी लिखी हुई *'एजूकेशन ऐण्ड मॉरल क्वेस्टः री कॉलिंग द फारगॉटेन'* वह दूसरी किताब है जिसे मेरे अनुसार भारत में शिक्षा पर काम करने वाले सभी लोगों को पढ़ना चाहिए। उनका तर्क है कि समकालीन भारतीय

शिक्षा ने महत्वपूर्ण नैतिक सवालों को पूछने के साहस का दमन किया है। इसके बजाय शक्तिशाली लोग जिसका अनुमोदन व तारीफ करते हैं उस चीज को शिक्षा में ''सफल'' घोषित किया जाता है। स्वतन्त्र नैतिक प्रतिक्रिया की अनुपस्थिति के कारण वे ताकतें जो कुछ खास चीजों को ''सफल'' के रूप में व्याख्यायित करती हैं, जांच से साफ बच निकलती हैं और छिपी रहती हैं। उदाहरण के लिए, स्कूलों में जिस तरीके से विज्ञान पढ़ाया जाता है, वह इसके कुछ खास आयामों को ही चिह्नित करता है जबकि इसके दूसरे अधिक महत्वपूर्ण आयामों को अनदेखा कर देता है। उन्होंने कहा कि ज्यादातर स्कूलों और पाठ्यपुस्तकों में जो विज्ञान पढ़ाया जाता है, उसके तीन झुकाव हैं। पहला, इसे आश्चर्य और उत्तेजना के स्रोत के रूप में, प्रकृति और तत्व के ऊपर प्रतिक्रिया के रूप में देखा जाता है। इसका दूसरा आयाम इसके परीक्षणों और प्रयोगशालाओं से जुड़े होने के रूप में है। विज्ञान महज वहमी विचारों और भावनाओं के बारे में नहीं होता है, बल्कि एक ऐसे यथार्थ के बारे में होता है जो हमारे अन्दर भी है और बाहर भी। तीसरा पहलू वह है जिसे वह विज्ञान का उपयोगितावाद कहते है। स्कूलों के लिए विज्ञान की शिक्षा प्रतियोगी परीक्षाओं और तकनीकी मजदूर बनने की इच्छा का लगभग पर्यायवाची बन गई है। इंजीनियरिंग और मेडिसिन की परीक्षाओं में टॉप पर पहुंचने के लिए यह एक पागलपन की तरह है। क्या सही है, के गहरे मायने के बारे में सोचने के लिए यहां बहुत कम जगह बचती है।

अविजित पाठक विशेष तौर पर विज्ञान की शिक्षा की आलोचना पर ही नहीं रुकते। इसके बजाय, वह विज्ञान के वर्तमान अर्थ को उस तरीके के विरोधाभास में खड़ा करते हैं जिस तरीके से विज्ञान पढ़ाया जा सकता है। इसमें विज्ञान का अर्थ एक व्यक्ति के मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता और निष्ठा प्रेषित करने के रूप में हो सकता है। अन्ततः, वह कहते हैं कि कोपरनिकस और गैलीलियो समेत उन सभी लोगों के जीवन का यही संदेश है जिन्होंने अपने विचारों के कारण उत्पीड़न का सामना किया। विज्ञान खुलेपन जैसे मूल्यों को पढ़ाने के बारे में भी होता है। कोई भी यह नहीं कह सकता कि इसमें उसे अन्तिम सत्य प्राप्त हो गया है। विज्ञान के अनुसार लोगों को अपने दिमाग खुले रखने चाहिए और सभी विचारों को सुनना चाहिए तथा नए साक्ष्यों को समझने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में विज्ञान में घमण्ड और सत्ता का स्थान नहीं होता, जैसा कि प्रायः स्कूल शिक्षा में उसे देखा जाता है। विज्ञान और गणित को ही महत्वपूर्ण विषय के रूप में देखा जाता है, बाकी सब गैरजरूरी माना जाता है और इसे समय की बरबादी समझा जाता है जिसका बेहतर उपयोग प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी में ही किया जा सकता है। जो विज्ञान पढ़ते हैं वे ताकतवर संस्थाओं के ताकतवर कर्मचारी हो जाते हैं। यही लोग महत्वपूर्ण चीजों को जानते हैं बाकी लोग विशेषकर मानविकी और सामाजिक विज्ञान के लोग तुच्छ ज्ञान पढ़ाते हैं। अविजित पाठक के अनुसार इस घमण्ड की जगह विज्ञान को स्कूलों में विनम्रता की शिक्षा देने के एक अवसर के रूप में देखा जाना चाहिए। उनके अनुसार यह विज्ञान का गहरा संदेश है।

अन्त में, विज्ञान वह जगह है जहां हम संवेदनशीलता और सौंदर्यबोध की शिक्षा दे सकते हैं। शिक्षण का परम्परागत तरीका विज्ञान को कविता और भावना से जुदा कर देता है। किन्तु हम अपने चारों तरफ के संसार से आमतौर से इस तरह से पेश नहीं आते। सूर्य के बारे में अध्ययन करना ब्रह्माण्ड की सबसे आश्चर्यजनक चीजों में से एक के बारे में पढ़ना है। सूर्य के बारे में पढ़ना बिना यह बात किये कि इसने मानव को कैसे प्रेरित किया, मानव इसे देख कर कैसे आश्चर्यचकित रहा, कुछ बहुत महत्वपूर्ण चीजों को नजरअन्दाज कर देना है। दूसरे कुछ शिक्षाविदों के साथ ही अविजित पाठक भी यह तर्क करते हैं कि विज्ञान की शिक्षा को सौंदर्यशास्त्र की शिक्षा के साथ मिला देना चाहिए जहां प्रकृति के अर्थ और उसके मूल्य पर चर्चा प्रकृति का मॉडल बनाने के प्रयास के साथ-साथ चलना चाहिए। उनका कहना है कि मूल्यों को हमारी शिक्षा व्यवस्था के केन्द्र में रखने की जरूरत है। यह उस तरह की बात नहीं है जहां परम्परावादी यह कहते हैं कि नैतिक शिक्षा को शिक्षा में लाए जाने की जरूरत है। यहां परम्परावादियों का आशय प्रायः यह होता है कि परम्परागत मूल्यों के कुछ संस्करणों को ले लिया जाए। समस्या यह है कि समान ''परम्परा'' के अन्दर ही कई

वैकल्पिक आवाजों के साथ हमारी मुठभेड़ होती है। हमें ध्यानपूर्वक अपनी परम्पराओं की समीक्षा करने की जरूरत है और आलोचनात्मक तर्क का इस्तेमाल करते हुए उन मूल्यों को लेने की जरूरत है जो हमारे समय के हिसाब से सर्वोत्कृष्ट हों और यदि आवश्यक हो तो हमें नई संस्कृतियों और नए मूल्यों को निर्मित करने से भी नहीं हिचकना चाहिए। परम्परावादियों द्वारा जो समस्या खड़ी की जाती है, उसका सामना ''मूल्य मुक्त'' विज्ञान के नाम पर सभी चीजों का तिरस्कार करके नहीं किया जाना चाहिए। मनुष्य बिना मूल्यों के नहीं रह सकता। जरूरत है कि हम अपने समय के हिसाब से सबसे प्रासंगिक मूल्यों का चयन करें। जरूरत इस बात की है कि हम शिक्षा में मूल्यों पर बहस को फिर से शुरू करें।

शर्मिला रेगे

वर्चस्व और प्रतिवर्चस्व की अवधारणा का इस्तेमाल करते हुए भारतीय विद्वानों द्वारा भारत और दुनिया के लिए एक नई शिक्षा के निर्माण के प्रयास में स्वर्गीय शर्मिला रेगे का काम, एक अद्‌भुत उदाहरण है। रेगे पुणे विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में सावित्रीबाई फुले वुमेन्स स्टडी सेन्टर में 2013 में अपनी असामयिक मृत्यु तक पढ़ाती रहीं। उनका तर्क था कि ज्यादातर भारतीय शिक्षा जाति और पितृसत्ता की छिपी हुई ताकतों द्वारा निर्मित है। यद्यपि शिक्षण संस्थान तटस्थ होने का दावा करते हैं लेकिन व्यवहार में खास जातियों और जेण्डर के छात्र सबसे ज्यादा इसका दंश झेलते हैं। इनकी संस्कृति पाठ्यचर्या से अनुपस्थित रहती है। शिक्षणशास्त्रीय विधि और यहां तक कि वह भाषा जिसमें पढ़ाया जाता है वह विशेषाधिकार प्राप्त सम्पन्न समूहों के रोजमर्रा के जीवन के इर्द-गिर्द होती है जिससे बाकी लोग बहिष्कृत हो जाते हैं। ऐसी व्यवस्था यह सुनिश्चित करती है कि ऐतिहासिक रूप से शोषित समूहों के लोग शिक्षण संस्थानों में तो आ सकते हैं लेकिन फिर भी उन्हें सबसे निचली पायदान पर ही रखा जाए। रेगे ज्योतिबा फुले, बी.आर. अम्बेडकर और पाउलो फ्रेरे के विचारों से प्रेरणा लेकर शिक्षा में एक भिन्न दृष्टिकोण की बात करती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि स्कूल और कॉलेज सामाजिक असमानता के पुनुरुत्पादन के महज केन्द्र भर ही हों। ज्योतिबा फुले ने शिव की तीसरी आंख यानी तृतीय रत्न के ताकतवर रूपक का इस्तेमाल आलोचनात्मक शिक्षा के अर्थ में किया है। अपने लिए सोचना सीखना वैसे ही है, जैसे शिव की तीसरी आंख का खुलना जिससे इसके सामने पड़ने वाले सभी झूठ नष्ट हो जाते हैं। रेगे के अनुसार, शिक्षा के प्रति फुले-अम्बेडकर नारीवादी दृष्टिकोण की यह ताकत है कि यह परम्परागत शिक्षा के आधार मिथ्या चेतना को जला कर राख कर देती है। इसके स्थान पर एक नई शिक्षा विकसित होती है जो शोषित और हाशियाकृत लोगों को ताकत देती है।

रेगे का मानना था कि ऐसी शिक्षा से शुरुआत करने का मतलब है कि छात्रों के लिए वह जगह बनाना जहां वह कक्षा में अपनी आवाज उठा सकते हैं। कक्षा-कक्ष की भाषा को बदलना जरूरी था और शिक्षक और छात्र के बीच रिश्तों को भी बदलना जरूरी था। सामान्य ब्राह्मणवादी मॉडल जहां शिक्षक को सभी ज्ञान का स्रोत माना जाता था, इसके बजाय यह स्वीकार किया गया कि छात्र अपने समुदायों की बुद्धिमत्ता और ज्ञान कक्षा-कक्ष में लेकर आते हैं। उन्हें इस तरह से ताकतवर बनाया जाना चाहिए कि जिससे उनके भीतर का ज्ञान बाहर आ सके और वे इस पर अपनी प्रतिक्रिया दे सकें। इसका यह मतलब नहीं है कि कक्षा-कक्ष में शिक्षक की कोई भूमिका नहीं होती। लेकिन अब यह भूमिका अलग किस्म की है, जहां शिक्षक की उड़ेलने वाले की भूमिका के बजाए मददगार और सहेजने वाले की भूमिका पर ज्यादा जोर है। छात्रों द्वारा जो पढ़ा जाता है और जिस तरह का असाइनमेंट वे करते हैं, उसमें भी बदलाव लाना होगा। रेगे ने अपने छात्रों से उन मुद्दों पर काम कराया जो तात्कालिक रूप से उनके आस-पास थे और इस तरह के सवालों को उठाया कि जो भोजन वह खाते हैं क्या वह ''भारतीय भोजन'' की उन छवियों से मेल खाते हैं जिसे परम्परागत पाठ्यपुस्तकें पेश करती हैं। उच्च जातियों के अलावा दूसरी जातियों द्वारा खाया जाने वाला भोजन क्या कम भारतीय है, उन्होंने पूछा।

शर्मिला रेगे, अविजित पाठक और कृष्ण कुमार उन महत्वपूर्ण विद्वानों में से हैं जिन्होंने शिक्षा को प्रभावित करने वाली छिपी हुई सामाजिक ताकतों को उजागर किया और शिक्षा की वैकल्पिक दृष्टि को निर्मित करने का प्रयास किया। विश्लेषणात्मक रूप से ऐसे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण नव-मार्क्सवादी परम्परा से काफी समानता रखते हैं, चाहे वे इस उपाधि की परवाह करते हों या नहीं। कुछ खास रूपों में, वे ब्रिटिश और अमेरिकी नव-मार्क्सवादियों के चिन्तन से आगे चले जाते हैं और अनूठे भारतीय और दक्षिण एशियाई महत्व को सामने लाते हैं। उनके लिए इस क्षेत्र के सांस्कृतिक संसाधन शिक्षा पर पुनर्विचार का एक ऐसा रास्ता खोलते हैं, जो चुनौती पेश करता है और जाति, धर्म, वर्ग और क्षेत्र की पुरानी श्रेणीबद्धता को पुनर्स्थापित नहीं करता। वे ऐसी शिक्षा के निर्माण की ओर आगे बढ़े जो लोगों को मुक्त करती है और उसी समय उनकी संस्कृति को उनकी ताकत का स्रोत बनाती है। उन्होंने ताकतवरों द्वारा निर्मित वर्चस्व को दूर हटाने में मदद की और प्रतिरोध के वृहत्तर रूपों का उदाहरण सामने रखा जिसके आधार पर एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था निर्मित की जा सके जिससे लोग सशक्त बन सकें और सामजिक संबंधों को बदला जा सके। ◆

लेखक परिचय : जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

संपर्कः amman.madan@apu.edu.in

संदर्भ

Freire, Paulo. (1970) 2005. Pedagogy of the Oppressed. New York and London: Continuum.

Willis, Paul. (1977) 1981. Learning to Labor: How Working Class Kids Get Working Class Jobs. Morningside. Columbia University Press.

अतिरिक्त पठन सामग्री

Kumar, Krishna. 2005. Political Agenda of Education, 2nd ed. New Delhi: Sage.

Pathak, Avijit. 2008. Education and Moral Quest: Recalling the Forgotten, New Delhi: Aakaar.

Rege, Sharmila. 2010. "Education as Trutiya Ratna: Towards Phule-Ambedkarite Feminist Pedagogical Practice."

Economic and Political Weekly 44 (44) : 88-98.

गणित शिक्षण भाग-I

संख्या संबंधी केन्द्रीय विचार

रविकांत

संख्याएं सिखाने को हमारे यहां आम तौर पर गिनती सिखाना कहा जाता है। इसका आम तौर पर यह मतलब लिया जाता है कि गिनती बोलना व उसे अंकों में पढ़ना व लिखना सिखा दिया जाए और दो अंकीय व उससे बड़ी वाली गिनती को अंकों की मदद से बनाने की तरकीबें सिखा दी जाएं। इसी वजह से एक पे एक ग्यारह, एक पे दो बारह के तरीके से संख्याओं को अंकों में बनाने का तरीका सिखाया जाता रहा है और इससे पैदा होने वाली समस्याओं से दशकों से साल-दर-साल जूझा जाता रहा है। जैसे, कई दिनों तक गिनती को रटने के बाद भी कई बच्चे चौवन लिखने के लिए कहने पर इस उलझन में पड़ जाते हैं कि पांच पे चार लिखा जाए या चार पे पांच लिखा जाए। कुछ बच्चे जल्दी ही इस उलझन से उबर जाते हैं और कुछ को उबरने में काफी वक्ता लग जाता है। इसी तरह की कई दूसरे किस्म की मुश्किलें लगातार पैदा होती रहती हैं, जिनका कोई तसल्लीबख्श जवाब अध्यापक के पास इसके अलावा कुछ नहीं होता कि धीरे-धीरे बच्चे मुश्किलों से पार पाना सीख जाएंगे या गिनती पढ़ना-लिखना न सीख पाने का जिम्मेदार बच्चा व उसका समाज है। हम गिनती की बुनावट संबंधी खुद की समझ और उसे सिखाने के तरीकों की आम तौर पर यह सोच कर छानबीन नहीं करते कि इस तरीके से हमने और हमारे पुरखों और उनके भी पुरखों ने, ...भी तो सीखा है, तो इससे जुड़ी हमारी समझ व सिखाने के पारंपरिक तरीकों में तो कोई खोट हो ही नहीं सकता। इसी वजह से हमारे यहां पर गिनती के मतलब और लिखित गिनती के बनने के तर्क पर व्यवस्थित तरीके से काम भी नहीं किया जाता है।

पारंपरिक तौर पर हमारे यहां गिनती में तीन चीजें सिखाई जाती हैं।

- गिनती बोलना
- गिनती पढ़ना व
- गिनती लिखना।

इसमें भी आम तौर पर गिनती को पढ़ने व बोलने का काम दो तरह से करवाया जाता है। किसी एक बच्चे को खड़ा करके गिनती बुलवाना व बाकी कक्षा द्वारा उस गिनती को दोहराना। गिनती चार्ट की मदद से गिनती को पढ़ना व बोलना। इसी तरह गिनती को लिखने के काम में चार्ट या किताब देख कर गिनती की नकल करने का काम भी कक्षाओं के रोजमर्रा के कामकाज का जरूरी हिस्सा होता है।

यह बात सही है कि ये तीनों चीजें भी संख्या की अवधारणा का हिस्सा होती है। गिनती बोलना सिखाते वक्त हम संख्याओं के नाम बोलना सिखाते हैं, जैसे एक, दो, तीन, दस, बीस, तीस, पचास, ...आदि। इसी तरह गिनती को पढ़ना व लिखना सिखाते वक्त हम उन संख्याओं को अंकों में पढ़ना व लिखना सिखाते हैं। हमारी ज्यादातर शुरुआती कक्षाओं, चाहे वे प्राथमिक की हों या पूर्व प्राथमिक की हों, उनमें नियमित होने वाले कामों में गिनती बोलना व गिनती पढ़ना-लिखना शामिल होता है। अपनी ताकत व वक्त का ज्यादातर

हिस्सा उपरोक्त तीनों चीजों पर लगाने से दो बड़ी ही अहम चीजें हमारी निगाहों से ओझल ही रहती हैं। उनमें से पहली है, गिनती का मतलब। चूंकि हमारा पूरा जोर गिनती यानी संख्या के नामों को बोलने व पढ़ाने-लिखाने पर पर लगा रहता है, तो हम गिनती के मतलब पर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। अगर ध्यान देते भी हैं तो शुरुआती संख्याओं में दस तक थोड़ा बहुत ध्यान देकर छोड़ देते हैं, उसके बाद हम इस पर खास काम करने की जरूरत नहीं समझते। अगर किताबों में गिनती के मतलब को लेकर कोई काम दिया हुआ हो तो भी हम उसे नजरअंदाज ही कर देते हैं। दूसरा है, गिनती को अंकों में बनाने के नियम कायदे बनाना व उनका इस्तेमाल करना सिखाना। गिनती का मतलब सिखाना और गिनती के अंकों में बनने के नियम कायदे बनाना व इस्तेमाल करना सिखाना हमारे रोजमर्रा के कामकाज का हिस्सा नहीं होता नतीजन जब भी बच्चों के सामने कोई संख्या आती है तो उसे बनाने के बजाय वे अपनी रटी हुई गिनती की समझ पर भरोसा करने के लिए मजबूर होते हैं और बहुत वक्त तक पैंतालीस लिखने के लिए इकतालीस से लेकर पैंतालीस तक पढ़ या लिख कर पैंतालीस तक पहुंचते हैं।

गिनती के मतलब को समझने के लिए उपरोक्त तीन कामों के साथ व उससे पहले संख्या संबंधी कुछ दूसरे केन्द्रीय विचारों पर काम करना जरूरी है, जिनमें से पहला व सबसे अहम है, मात्रा। यानी किस गिनती का मतलब क्या है। अगर हम पांच बोलते हैं तो पांच का मतलब क्या होता है। मात्रा को गिनती यानी संख्या के नामों के साथ जोड़े बगैर किसी संख्या का मतलब समझना नामुमकिन सा है। अगर आपको यकीन न आए तो नीचे जापानी भाषा में कुछ संख्याओं के नाम लिखे हैं, जरा उनका मतलब तो बूझ कर देखिए। जानबूझ कर ये नाम क्रम से नहीं लिखे गए हैं।

कू, हाशी, शीची, सेन, जू, गो, नी, ईची, शी, रोकू

आपको यह भी समझ में नहीं आया होगा कि ये किन संख्याओं के नाम हैं। अगर आप अपने यहां होने वाली दावत के लिए शीची कद्दू लाना चाहें तो आपको पता ही नहीं चलेगा कि आपको कितने कद्दू लाने हैं?

अब नीचे दी गई इस सारणी में देखिए। आप इन नामों से अनजान होने के बावजूद यह समझ जाएंगे कि किस नाम की संख्या का क्या मतलब है। और यह भी बता पाएंगे कि दावत के लिए कितने कद्दुओं की जरूरत पड़ने वाली है।

यानी बगैर मात्रा के किसी संख्या का मतलब बूझ पाना नामुमकिन-सा है। इसलिए संख्या के मतलब को समझने के लिए मात्रा की समझ भी विकसित करना बेहद जरूरी है। जिसके लिए सामग्री की मदद से काम करना व बच्चों के लिए पर्याप्त सामग्री की व्यवस्था करना भी बेहद जरूरी है लेकिन इसको हमारा शैक्षिक तंत्र हाथ से काम को करने के प्रति अपने भीतर बसी गहरी नफरत के चलते कक्षा से कोसों दूर रखता है।

आप किसी तरह से सामग्री की मदद से मात्रा पर काम करने को अपनी कक्षा में शामिल कर भी लें तो एक और सवाल यह उठता है कि क्या सिर्फ संख्या से जुड़ी मात्रा की समझ विकसित कर देने भर से संख्या की समझ पूरी तरह से विकसित हो जाएगी? आपका ध्यान इस बात पर शायद ही गया हो कि अभी तक संख्या के नामों व उससे जुड़ी मात्रा के बारे में बात की गई है लेकिन हम ये भी जानते हैं कि हर संख्या का किसी दूसरी संख्या से किसी न किसी तरह का संबंध होता है। और बिना संख्या के आपसी संबंधों को समझे, संख्याओं को ठीक से समझना मुमकिन नहीं है। तो संख्या से जुड़ा दूसरा अहम केन्द्रीय विचार है, संख्याओं का आपसी संबंध। फिर से संख्याओं के इस आपसी संबंध के मतलब की समझ का विकास भी संख्याओं से जुड़ी मात्राओं की समझ पर काम करने से ही ठीक से बन पाता है। दरअसल यह एक विचार न होकर कई विचारों की एक पोटली है। इसमें दो संख्याओं का आपसी संबंध भी शामिल होता है तो दो से ज्यादा संख्याओं का आपसी संबंध भी शामिल होता है। जैसे, दो संख्याओं में से कौनसी छोटी है व कौनसी बड़ी, या किन्हीं पांच

मात्रा	संख्या
।	ईची
।।	नी
।।।	सेन
।।।।	शी
।।।।।	गो
।।।।।।	रोकू
।।।।।।।	शीची
।।।।।।।।	हाशी
।।।।।।।।।	कू
।।।।।।।।।।	जू

संख्याओं को बढ़ते क्रम या घटते क्रम में किस तरह से जमाया जा सकता है। इसमें पत्थरगढ़ी संख्याएं, जैसे पांच, दस, सौ, हजार आदि भी शामिल होती हैं, जिनका उन संख्याओं के आस-पास की पांच, दस या सौ संख्याओं के साथ संबंध जानना, उन संख्याओं को बेहतर ढंग से समझने में मददगार होता है। इसी में संक्रियाएं भी शामिल होती हैं जो बहुत ही जल्द इतनी बड़ी अवधारणा बन जाती है कि उस पर अलग से काम करने की जरूरत पड़ती है। जैसे बारह व तीन का संबंध कई तरह से हो सकता है। बारह, तीन से नौ ज्यादा है; तीन, बारह से नौ कम है; बारह, तीन का चार गुना है; तीन का चार गुना बारह है; बारह में तीन मिला दें तो पंद्रह हो जाते हैं; बारह के तीन हिस्से करें तो कई तरह से हो सकते हैं एक, एक, दस; दो, एक, नौ... ; बारह के तीन बराबर हिस्से करें तो हरेक हिस्से में चार-चार मिलते हैं; और बारह से तीन-तीन करके निकालते जाएं तो चार बार तीन निकाले जा सकते हैं; बारह को तीन बार लें तो छत्तीस हो जाते हैं; और तीन को बारह बार लें तो भी छत्तीस ही मिलते हैं। आखिर के दो उदाहरणों में आपका ध्यान इस बात की तरफ भी गया होगा कि इसमें बारह संख्या का तीन बार के साथ संबंध है, सिर्फ तीन के साथ नहीं। यानी यह संबंध पिछले सभी संबंधों से थोड़ा ज्यादा पेचीदा किस्म का है, जिसे गणित में गुणात्मक संबंध कहते हैं। यानी हम देख सकते हैं कि संख्याओं के आपसी संबंधों की गहरी समझ को विकसित किए बगैर, संख्या की अवधारणा को पूरी तरह से विकसित हुआ नहीं माना जा सकता है। यह संबंध कितना पेचीदा हो सकता है इसकी एक झलक आप साथ में दिए गए चार्ट में देख सकते हैं।

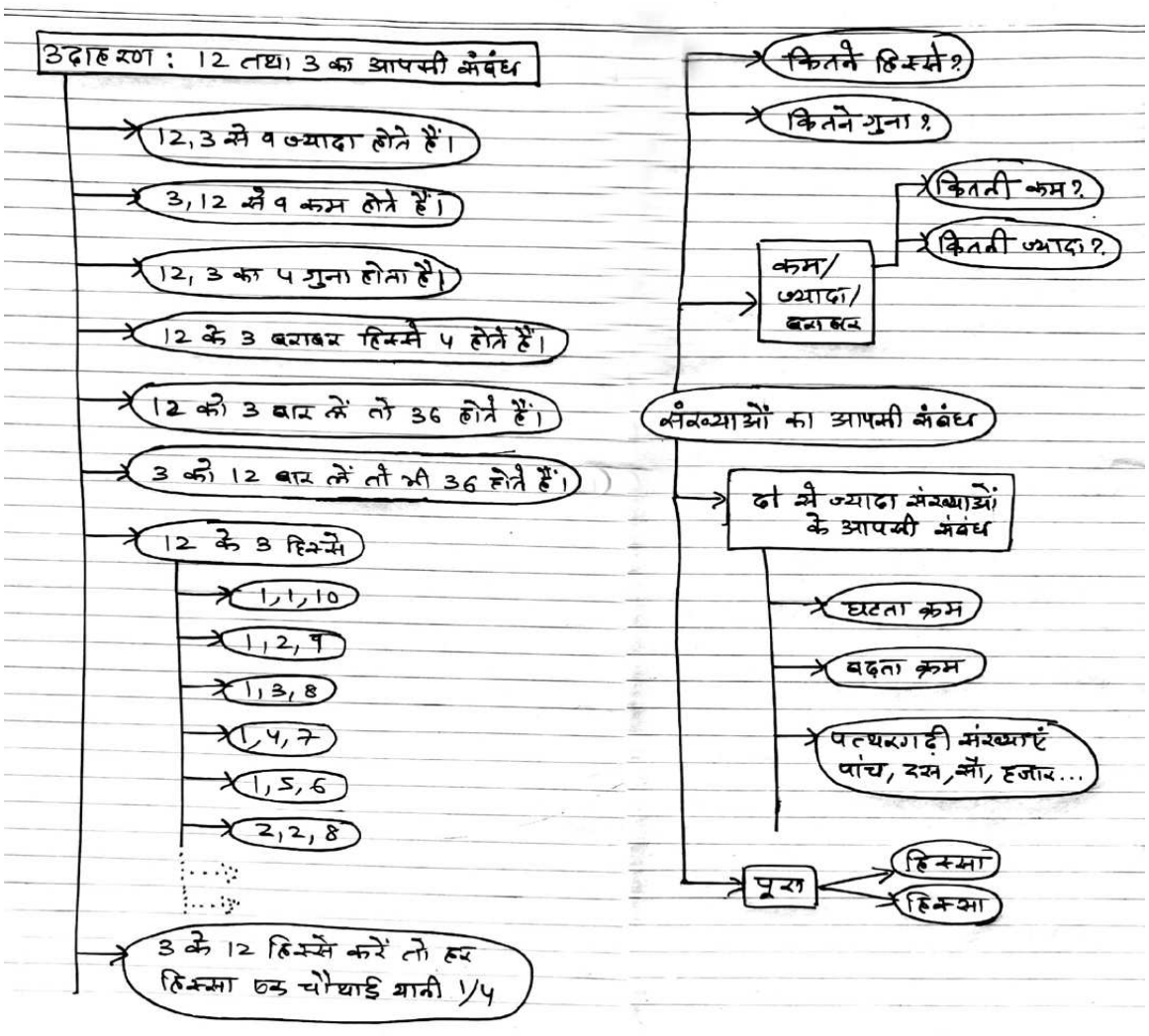

यानी गिनती की समझ को गहरा व पुख्ता करने के लिए उससे जुड़ी मात्रा व संख्याओं के आपसी संबंधों पर काम किया जाना बेहद जरूरी है क्योंकि हर गिनती अलग से संख्या भी है और उसका दूसरी संख्याओं के साथ किसी न किसी तरह का संबंध भी है। तो हमारे सामने यह सवाल आता है कि इससे जुड़ी मात्रा व संख्याओं के आपसी संबंधों से जुड़ी समझ को किस तरह से विकसित व प्रस्तुत किया जाए। यानी संख्याओं से जुड़ा तीसरा केन्द्रीय विचार है, संख्या संबंधी अवधारणाओं के प्रस्तुतीकरण का।

यह प्रस्तुतीकरण तीन स्तरों पर किया जा सकता है। इसका शुरुआती व पहला स्तर है संख्या को किसी ठोस चीज या सामग्री की मदद से दर्शाना। जैसे, पांच के मतलब को दर्शाने के लिए पांच कंकर या पांच पत्ती उठा कर दिखाना। जैसे-जैसे अवधारणाएं आगे बढ़ती हैं तब हर अवधारणा का ठोस चीजों से प्रस्तुतीकरण मुमकिन व व्यवहारिक नहीं होता। जैसे, दस, बीस, पचास, ...सौ आदि तक तो चीजों की मदद से संख्याओं को दर्शाया जा सकता है लेकिन जैसे-जैसे संख्याएं बढ़ती हैं, उन्हें चीजों से दर्शाना अव्यवहारिक होता जाता है। इसी तरह गणित में हर संख्या के लिए नया अंक लेते जाते जो उसे याद रखना व उसकी मदद से संख्या को दर्शाना काफी अव्यवहारिक होता। इस मुश्किल से पार पाने के लिए गणित में चीजों का समूहीकरण करके बहुत जल्द संख्याओं को दोपरती या बहुपरती बना दिया जाता है। ऐसी सबसे पहली अवधारणा दस की होती है जिसमें एक परत दस इकाइयों की होती है तो दूसरी परत एक दहाई की होती है। यानी दस की अवधारणा में दस इकाइयां भी होती है और एक दहाई भी। और इसमें तीसरी परत होती है शून्य की, जिसका इस्तेमाल संख्या को अंकों में लिखते वक्त किया जाता है। मौखिक संख्या में उसकी जरूरत नहीं पड़ती।

इसलिए पहले स्तर के साथ-साथ दूसरे स्तर पर भी काम करने की जरूरत होती है, जिसमें अवधारणा का चित्रात्मक प्रस्तुतीकरण किया जाता है। यह काम में ली गई ठोस चीजों के चित्र बना कर भी किया जा सकता है और मन से चीजों को चुन कर उनके चित्र बना कर भी किया जा सकता है। ठोस चीजों की तरह ही अवधारणाओं के और आगे बढ़ने पर उनका चित्रात्मक प्रस्तुतीकरण भी मुमकिन नहीं हो पाता, इसलिए हमें पहले दोनों स्तरों के साथ ही साथ प्रस्तुतीकरण के तीसरे स्तर की तरफ भी बढ़ने की जरूरत होती है जिसमें अवधारणाओं का गणितीय निरूपण किया जाता है, यानी गिनती को गणितीय निशानों के जरिए, मतलब अंकों के जरिए दर्शाया जाता है। हमारे यहां गणित पर किए जाने वाले कामकाज में मोटे तौर पर पहले दोनों स्तर के प्रस्तुतीकरण ज्यादातर गायब ही रहते हैं और हर कदम पर बिना मतलब की समझ बनाए, तीसरे स्तर के गणितीय निरूपण की भरमार दिखलाई पड़ती है। संख्या की अवधारणाओं के प्रस्तुतीकरण पर काम करने की भी ढेर सारी पेचीदगियां हैं जो आगे संख्याओं पर विस्तार से काम करते वक्त हमें दिखलाई देंगी।

हम यह कह सकते हैं कि संख्याओं से जुड़े चार केन्द्रीय विचार हैं, जिनमें से अभी ज्यादातर एक या ड़ेढ विचार पर काम किया जाता है। संख्या की गहरी समझ गिनने के विविध पहलुओं पर काम करने से बनेगी और इसकी व्यापक समझ संख्याओं के आपसी संबंधों पर काम करने से बनेगी। इन दोनों के मेल से बनी संख्या की समझ गहरी व व्यापक होने की वजह से पुख्ता भी होगी। ◆

लेखक परिचयः करीब 23 वर्षों से प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षक शिक्षा, शिक्षण सामग्री एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षाक्रम और अनुवाद के क्षेत्र में कार्य। हाल-फिलहाल विभिन्न संस्थाओं के साथ बतौर शैक्षिक सलाहकार कार्यरत हैं।

संपर्क : 9414057424; ravikaant@gmail.com

उपलब्धि सर्वेक्षणों का भूगोल और गांवों के स्कूल

ऋषभ कुमार मिश्र और रवनीत कौर

स्कूली शिक्षा की दशा और दिशा की व्याख्या करने के लिए वृहद् पैमाने के उपलब्धि सर्वेक्षणों का प्रयोग एक लोकप्रिय चलन है। पीसा (प्रोग्राम फॉर इंटरनेशनल स्टूडेंट असेसमेंट) और असर (ऐनुअल स्टेटस ऑफ एजुकेशन रिपोर्ट) इसके उदाहरण हैं। इन रिपोर्टों के प्रकाशित होते ही अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर स्कूली शिक्षा की सेहत की चर्चाएं जोर पकड़ने लगती हैं। ये चर्चाएं सर्वेक्षण के लिए बनाये गये वैज्ञानिक मापन उपकरणों (उपलब्धि परीक्षण, अभिवृत्ति मापनी, संसाधन उपलब्धता चेकलिस्ट, उपस्थिति पंजिका के अवलोकन आदि) पर प्राप्त अंकों को आधार बनाकर की जाती हैं। इनके द्वारा सफलता और असफलता के कुछ वर्गों का निर्माण कर दिया जाता है। इन वर्गों के सापेक्ष शिक्षा की गुणवत्ता, अवसरों की समानता, शिक्षा के लिए किए गए नीतिगत प्रयासों के बारे में आकलन की कोशिश भी होती है। हाल में ही असर-2018 की रिपोर्ट जारी हुई है। इस रिपोर्ट में 596 जिलों के लगभग साढ़े तीन लाख ग्रामीण परिवारों और सोलह हजार स्कूलों के सर्वेक्षण के आधार पर प्राथमिक विद्यालयों तक बच्चों की पहुंच, उपलब्धि और विद्यालयों के ढांचागत संरचना के आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं। यह रिपोर्ट ग्रामीण भारत में स्कूली शिक्षा की चिंताजनक स्थिति को उजागर करती है। इस रिपोर्ट में स्कूलों में नामांकन और बुनियादी सुविधाओं जैसे पैमानों पर सकारात्मक वृद्धि दर्ज की गई है लेकिन पढ़ने और गिनने जैसी कुशलताओं में विद्यालयों की खस्ता हालत भी उल्लेखनीय है। उदाहरण के लिए इस रिपोर्ट में बताया गया है कि 6 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों का स्कूलों में नामांकन लगभग 95 प्रतिशत है (असर, 2018)। 11 से 14 वर्ष तक आयु की विद्यालय न जाने वाली लड़कियों का प्रतिशत 4.1 है (असर, 2018)। इस सार्थक बदलाव के लिए शिक्षा के अधिकार कानून के धरातल पर क्रियान्वयन को उत्तरदायी माना जा रहा है। इस वर्ष सरकारी स्कूलों के नामांकन प्रतिशत और निजी स्कूलों में नामांकन प्रतिशत लगभग बराबर है। ये आंकड़े उत्साहवर्धक हैं लेकिन गांवों में प्राथमिक शिक्षा की वास्तविकता के बारे केवल इनके आधार पर निष्कर्ष निकलना ठीक नहीं होगा। उदाहरण के लिए वर्ष 2018 में लगभग एक चौथाई सरकारी स्कूलों में विद्यार्थियों का नामांकन 60 प्रतिशत और इससे कम है (असर, 2018)। वर्ष 2008 में कक्षा 8 में पढ़ने वाले लगभग 85 प्रतिशत विद्यार्थी कक्षा 2 की किताब पढ़ सकते थे जबकि 2018 में इनकी संख्या घटकर लगभग 73 प्रतिशत हो गई है (असर, 2018)। इसी तरह कक्षा 8 के केवल 44 प्रतिशत बच्चे तीन अंकों में एक अंक से भाग देने की संक्रिया कर सकते हैं (असर, 2018)। इस तरह से असर की रिपोर्ट इस मान्यता को पुनर्बलित करती है कि स्कूल में प्रवेश लेना और बने रहना सीखना सुनिश्चित नहीं कर रहा है। इस निष्कर्ष को सिरे से तो खारिज नहीं कर सकते लेकिन केवल इसके आधार पर शिक्षा और उसकी प्रक्रियाओं के बारे में धारणाएं बना लेना भी ठीक नहीं है। ये सर्वेक्षण मापनीय सच्चाई के बारे में तो बताता है लेकिन इस सच्चाई तक पहुंचने वाले नजरिए का मूल्यांकन भी आवश्यक है। इसी पृष्ठभूमि में यह लेख वृहद् पैमाने के उपलब्धि सर्वेक्षणों (खासकर असर-2018) के औचित्य और व्याख्या को निम्नलिखित सवालों के आइने में देखता है-

- क्या उपलब्धि-सर्वेक्षण के प्राप्तांक शिक्षा की गुणवत्ता का पैमाना हो सकते हैं?
- क्या शैक्षिक अवसरों की समानता संसाधनों की उपलब्धता से संभव है?
- क्या शैक्षिक अवसरों की समानता व गुणवत्ता की दृष्टि से गांवों के स्कूल हाशिए पर हैं?

क्या उपलब्धि-सर्वेक्षण के प्राप्तांक शिक्षा की गुणवत्ता का पैमाना हो सकते हैं?

शिक्षा की गुणवत्ता को देखने का 'आर्थिक मॉडल' उपलब्धि-सर्वेक्षण के प्राप्तांकों को शिक्षा की गुणवत्ता का पैमाना मानता है। इसके अनुसार विद्यार्थियों के उपलब्धि-प्राप्तांक एवं अन्य मात्रात्मक आंकड़े जैसे- अध्यापकों की उपस्थिति, संसाधनों की उपलब्धता आदि शिक्षा के लिए किए गए निवेश से प्राप्त लाभ को दर्शाते हैं। यह मॉडल मानता है कि स्कूल में आना और बने रहना तब तक आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं होता है जब तक विद्यार्थी उन कुशलताओं से युक्त न बने जो उन्हें भावी उत्पादक बनाता है। यहां कुशलताओं की परिभाषा एक सीमित दृष्टि से की जाती है जिसके अंतर्गत गणित, भाषा, समस्या समाधान जैसी संज्ञानात्मक दक्षताओं को रखते हैं। इसके उदाहरण के तौर पर असर रिपोर्ट में प्रयुक्त मापकों को देखा जा सकता है। वस्तुतः यह तरीका सीखने को व्यवहारवाद की सीमाओं में बांध देता है जहां कोई बाह्य एजेंसी क्या सीखना है, कैसे सीखना है, आदि को तय करती है। इसे तय करने में शिक्षा के भावी आर्थिक परिणामों और जरूरतों को ध्यान में रखा जाता है और बाह्य अवलोकनीय प्रभावों जैसे-उपलब्धि परीक्षणों द्वारा मापा जाता है। शिक्षा के आंतरिक गुण जैसे- एक सीखने वालों के समूह में रहना, उनके साथ विभिन्न गतिविधियों में भागीदारी करना, अनुभवों को साझा करना आदि गौण हो जाते हैं। असर जैसे परीक्षण जो बाह्य, मूर्त और मापनीय गुणों का मापन करते हैं इसी मॉडल के पूरक हैं जिसके आधार पर विद्यार्थियों के प्रदर्शन के माध्यम से वर्तमान में शिक्षा के लिए किए जा रहे निवेश और भविष्य में उसके आउटपुट के बारे में हम अनेक व्याख्याएं प्रस्तुत करते हैं। ये व्याख्याएं बताती हैं कि शिक्षा में सुधार के कौन से उपाय कारगर रहे और कौन से नहीं। निहितार्थ की इनकी व्याख्याएं वर्तमान व्यवस्था में भावी पीढ़ी के फिट बैठने या अनुकूलित होने की संभावना पर आधारित हैं न कि सामाजिक रूपांतरण के वृहद् लक्ष्य की संभावनाओं पर। जबकि शिक्षा से हमारी अपेक्षाएं पहले लक्ष्य के बदले दूसरे लक्ष्य के करीब हैं।

भारतीय संदर्भ में शिक्षा की गुणवत्ता को इस नजरिए से देखने की व्याख्या पद्मा सारंगपानी (2010) प्रस्तुत करती हैं। इनके अनुसार 1990 के दशक के पूर्व शिक्षा की गुणवत्ता को किसी अंतिम वर्ग या संकेतक से नहीं परिभाषित किया जाता था। इस दौर की नीतियों में औपनिवेशिक बोझ और विरासत जैसे- रटंत प्रणाली, परीक्षा पर जोर और किताबी ज्ञान के लिए सीखने से पार जाने की कसौटियों को गुणवत्ता का आधार माना गया था। इसके लिए जिन प्रक्रियागत सुधारों को अपनाया गया उनका लक्ष्य मात्रात्मक न होकर मूल्यपरक था। ये मूल्य एक आधुनिक गणतंत्र के राज्य-नागरिक संबंध से अनुप्राणित थे (कुमार, 2005)। 1990 के दशक के बाद से अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता से संचालित कार्यक्रमों का दौर आरंभ होता है। इस दौर में गुणवत्ता के मूर्त प्रमाण को विद्यार्थियों की उपलब्धि के रूप में देखा जाने लगा। इसकी प्राप्ति को शिक्षा व्यवस्था की सफलता का पैमाना माना गया। इसी समय केन्द्रीकृत प्रबंधकीय प्रणाली का जन्म हुआ जिसमें शिक्षकों के लिए प्रशिक्षण और स्कूल के संसाधनों में सुधार तो सम्मिलित थे लेकिन शिक्षकों की स्वायत्तता, संदर्भ आधारित स्थानीय शिक्षण और स्कूल व्यवस्था के बाहर के चरों को शामिल नहीं किया गया। बच्चों की उपलब्धि को केवल संज्ञानात्मक चर माना गया जिसे पोषित करने के लिए स्कूल में ही प्रयोगशाला जैसी हर व्यवस्था को सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया। ये व्यवस्थाएं बालकेन्द्रित शिक्षा की सतही व्याख्याओं पर आधारित थीं जो बच्चे की आनुभाविक दुनिया और सक्रियता को नियंत्रण और जोड़-तोड़ जैसी पद्धति की ओर ले गईं। संसाधनों की कमी को पूरा करके उपलब्धि बढ़ाना, विद्यार्थियों के व्यवहार और संज्ञान का उद्दीपन, उनके सांवेगिक पक्ष का लगभग उपेक्षित हो जाना, शिक्षकों और स्कूल की गतिविधियों को उपलब्धि केन्द्रित बनाना आदि, इसके कुछ उदाहरण हैं। जबकि अनेक गैर संज्ञानात्मक कारक बच्चों की उपलब्धि को प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ चर अभिभावकों की आर्थिक पृष्ठभूमि, साक्षरता स्तर, जेंडर, स्कूली शिक्षा आरंभ करने की आयु, अधिवास की पृष्ठभूमि हैं (मसीनो और नीरोनानजुआ, 2016)। इन गैर संज्ञानात्मक कारकों के आधार पर अध्येताओं का मानना

है कि बच्चों की औपचारिक शिक्षा में सफलता या असफलता के बीज उनके स्कूल में प्रवेश करने से पूर्व पड़ जाते हैं। ये उसके पक्ष में झुके होते हैं जिसकी संस्कृति, अपेक्षाओं और आख्यानों को औपचारिक शिक्षा में जगह मिलती है (फ्रेजर, 1995)। शैक्षिक अवसरों की समानता के इन आयामों को उपलब्धि-सर्वेक्षण समाहित नहीं करते हैं। जब केवल इन प्राप्तांकों के आधार पर शिक्षा के गुण की व्याख्या करते हैं तो शिक्षण विधियों, संदर्भ के अनुसार अनुकूलित पाठ्यचर्या और अध्यापकों की स्वायत्तता जैसे प्रक्रियागत पहलुओं के बारे में भी कोई जानकारी नहीं मिलती है। जबकि औपचारिक शिक्षा के ये आयाम सीखने की प्रक्रियाओं को शिक्षा के लक्ष्यों के अनुरूप नियोजित करते हैं।

इसी तरह यह रिपोर्ट एक अन्य विरोधाभास को जन्म देती है। जब बच्चा नहीं सीखता है तो वह और उसकी पृष्ठभूमि जिम्मेदार है और यदि वह बेहतर सीखता है तो उसके लिए स्कूल की भूमिका उल्लेखनीय है। तो सीखने-सिखाने के लिए वास्तविक जिम्मेदार कौन? यदि स्कूल, तो हर वह बच्चा जो स्कूल में है उसे सीखना चाहिए। यदि बच्चा, तो वह किसी भी स्कूल में हो सीखेगा ही। इस विरोधाभास की व्याख्या कैसे करेंगे? गुणवत्ता का यह मॉडल उक्त विरोधाभास का निदान करते हुए मान लेता है कि मध्यमवर्गीय और नगरीय स्कूलों (जो अधिकांशतः निजी हैं) में जाने वाले बच्चों के अभिभावक पैसे देकर शिक्षा के गुण को खरीद सकते हैं। समस्या उनके साथ है जो धन से गुण को नहीं खरीद पा रहे हैं। जो खरीदने में समर्थ हैं उनकी उपलब्धि के बराबर, जो नहीं खरीद सकते हैं उनकी उपलब्धि को पहुंचाने को अपेक्षित स्थिति माना जा रहा है। इस अपेक्षित से ताल-मेल न बैठा पाने वाले बच्चे और स्कूल के लिए उपचारात्मक प्रयास किए जाते हैं मानो वे किसी संक्रामक बीमारी से ग्रस्त हों। उन्हें अलग-अलग विशेषण दिए जाते हैं जो उनकी असफलता को बताते हैं लेकिन स्कूल की अधिगम पारिस्थितिकी के बारे में चर्चा नहीं की जाती है। यदि असर की रिपोर्ट का अवलोकन करें तो इसमें विद्यार्थियों की भागीदारी, अध्यापक-विद्यार्थी संबंध, कक्षा में होने वाली अधिगम की गतिविधियों आदि के बारे में न के बराबर जानकारी है। यह रिपोर्ट गांव के स्कूलों को ऐसी जनसंख्या मान रही है जो अपेक्षित उपलब्धि की प्राप्ति के अभाव में गुणवत्ता के पैमाने पर पीछे होते जा रहे हैं। जबकि सच्चाई है कि ऐसा कोई अंतिम और सर्वमान्य पैमाना नहीं है।

कृष्ण कुमार (2005) का मानना है कि शिक्षा स्वयं एक गुण है इसके किसी घटक या आयाम के सापेक्ष गुण की खोज 'गुण' के अर्थ को सीमित कर देता है। इसी प्रभाव का अवलोकन हम असर की रिपोर्ट में कर सकते हैं। असर जैसे सर्वेक्षणों के आधार पर स्कूली शिक्षा के बारे में निष्कर्ष निकालने के उतावलेपन के बारे में आगाह करते हुए दिशा नवानी (2018) का भी मानना है कि बड़े पैमाने पर बच्चों के उपलब्धि परीक्षण के आधार पर गुणवत्ता, दायित्व और शैक्षिक अवसरों की समानता के बारे में केवल आंशिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ये परीक्षण मापन की वैज्ञानिक कसौटियों जैसे- विश्वसनीयता, वैधता, आंकड़ों के चयन आदि पर केन्द्रित होते हैं जबकि कक्षा में क्या हो रहा है? बच्चों और शिक्षकों के आपसी संबंध कैसे हैं? पाठ्यचर्या की प्रकृति क्या है? सीखने वालों के पूर्व ज्ञान के समावेश की संभावनाएं हैं या नहीं जैसे शिक्षणशास्त्रीय सवालों पर ये लगभग मौन रहते हैं। ये तथ्य असर की रिपोर्ट के संदर्भ में भी ठीक बैठते हैं। यदि रिपोर्ट में प्रस्तुत आंकड़ों को देखें तो एक बड़ा हिस्सा भाषा, गणित और समस्या समाधान से जुड़ी उपलब्धियों को दिखाता है। फिर संसाधन और संरचनागत उपलब्धियों का विस्तृत ब्यौरा है जिसमें शौचालय, खेल का मैदान, बिजली, अध्यापकों और बच्चों की उपस्थिति, दोपहर के खाने आदि का जिक्र है। इस रिपोर्ट में शिक्षण और मापन का अंतराल देखा जा सकता है। इसकी समीक्षा पर आधारित अधिकांश लेख और विचार इस दिशा में बढ़ रहे हैं कि स्कूलों में कुछ नहीं पढ़ाया जा रहा है, स्कूलों में पढ़ाया जा रहा है लेकिन बच्चे नहीं सीख पा रहे हैं। क्या यह सवाल पूछा गया कि स्कूलों में क्या और कैसे पढ़ाया गया और क्या इस शिक्षण के दौरान सीखने के लिए आकलन के उपागम द्वारा बच्चों की जो उपलब्धि मापी गई उसके कुछ सार्थक निहितार्थ हैं। शिक्षण स्थानीय परिवेश, पूर्वज्ञान और परिस्थितियों के सापेक्ष होता है जबकि उपलब्धि सर्वेक्षणों में मापन एक मानकीकृत और सीमित समय में लिए गए टेस्ट पर आधारित होता है। यह बताने की आवश्यकता नहीं कि ज्यां पियाजे का सिद्धान्त ऐसे ही परीक्षणों पर गलत उत्तर देने वाले बच्चों के जवाब की उपज था। जो बच्चे असर जैसे वृहद् उपलब्धि सर्वेक्षणों पर असफल हो रहे हैं, शायद उनके उत्तरों का गुणात्मक विश्लेषण एक भिन्न तस्वीर प्रस्तुत कर सकता है जिसमें समस्या के बदले संभावनाएं हो सकती हैं!

क्या शैक्षिक अवसरों की समानता संसाधनों की उपलब्धता से संभव है?

शैक्षिक अवसरों की समानता के संदर्भ में भारतीय नीतियों में 'संसाधनों की उपलब्धता' के उपागम को अपनाया गया है। यदि पिछले 30 वर्षों के दौरान प्राथमिक शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए किये गए प्रयासों को देखें तो शिक्षकों की भर्ती, उनका प्रशिक्षण, किताबों की उपलब्धता, आधारभूत संरचना की उपलब्धि, छात्रवृत्ति, वर्दी, भोजन आदि संसाधनों की उपलब्धता का उदाहरण देख सकते हैं। यह उपागम स्कूलों के स्तर पर विभेदीकरण को स्वीकार करता है। इसकी अंतर्निहित मान्यता है कि कुछ स्कूल सीखने के अच्छे अवसर इसलिए उपलब्ध करा पाते हैं क्योंकि उनके पास संसाधनों की उपलब्धता है। जो स्कूल अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पा रहे हैं यदि उनमें ये संसाधन उपलब्ध करा दिये जाएं तो वे भी अच्छा प्रदर्शन करने लगेंगे। इसी तरह यह उपागम मानता है कि सभी विद्यार्थी ऐसी सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति में नहीं हैं कि वे शिक्षा के अवसरों का लाभ उठा पाएं। इसलिए शैक्षिक उपलब्धि जैसे आकलन मापदंडों पर इन बच्चों की सफलता के लिए विशेष सहायता की आवश्यकता है। संसाधन उपलब्धता का उपागम 'विशेष सहायता' के लिए स्कूल को ऐसे केन्द्र के रूप में देखता है जहां वे सभी संसाधन और सुविधाएं मुहैया कराये जाने चाहिए जो किसी भी वंचित या हाशिए के समाज के बच्चे को अन्य बच्चों के समान विकास का अवसर उपलब्ध कराएं। यह उपागम गरीबी, पढ़ाई में कमजोर होना, विद्यालयी शिक्षा पूरी न होना और भविष्य में रोजगार-बाजार में असफलता की अधिक प्रायिकता को परस्पर संबंधित मानता है और इन समस्याओं को स्कूलों और बच्चों के परिवारों को अतिरिक्त वित्त प्रदान करके, पर्याप्त मात्रा में शिक्षकों अथवा पैरा-शिक्षकों की नियुक्ति करके, स्कूली शिक्षा के लिए तैयार करने के कार्यक्रम चलाकर, लड़कियों व आदिवासियों के लिए अलग से स्कूल खोलकर पूरा करना चाहता है। जब राज्य की सहायता से स्कूल संसाधन की बाधा को पार करने के लिए तत्पर हैं तो यह अपेक्षित है कि विद्यार्थियों की उपलब्धि में सुधार होगा जो उनकी भावी सफलताओं का आधार बनेगा। अंततः स्कूल भी एक संसाधन बन जाता है। इस संसाधन के कार्यकारण का आकलन असर जैसी रिपोर्ट में किया जाता है जिसमें गुण के बदले मात्रा पर जोर रहता है। इन रिपोर्टों में संसाधन के सुधरे हालत के सराहनीय आंकड़ें पूर्ति पक्ष की तत्परता को दिखाते हैं। ये बताते हैं कि अच्छी शिक्षा के लिए जो संसाधन जरूरी थे वे प्रदान कर दिए गए। अब ये स्कूल सीखने-सिखाने की दृष्टि से संसाधन संपन्न हैं और यहां वैसी ही अधिगम गतिविधियां हो सकती हैं जैसी कि निजी स्कूलों में। यदि स्कूलों के हालत सुधर गए थे तो सरकारी विद्यालयों के समान्तर निजी विद्यालय क्यों फल-फूल रहे हैं? इसका उत्तर संसाधन पूर्ति के तर्क द्वारा संभव नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में मुरलीधरन (2006) का अध्ययन महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रदान करता है। इस अध्ययन में पाया गया कि निजी स्कूलों में पुस्तकालय, खेल के समान, शिक्षण अधिगम सामग्री की सुविधा सरकारी स्कूलों की तुलना में कम है। शिक्षकों का वेतन और सुविधाएं सरकारी विद्यालयों की तुलना में अतिनिम्न हैं लेकिन उनकी संख्या अधिक है। इस तरह से ये विद्यालय संसाधन उपलब्धता की दृष्टि से सरकारी विद्यालयों से पीछे ठहरते हैं। लेकिन वे किताबी ज्ञान को परंपरागत विधि द्वारा ही तैयार कराके अच्छे अंक लाने का रास्ता साफ कर रहे हैं। यहां शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात कम है। बहुस्तरीय कक्षाएं न के बराबर हैं। वे बाजार की प्रवृत्ति के अनुकूल अंग्रेजी पढ़ा रहे हैं। सीखने-सिखाने की गतिविधियों में व्यवहारवादी पद्धति के अनुरूप अधिक समय देकर अपेक्षित परिणाम पैदा कर रहे हैं। इन्हीं परिस्थितियों में इन स्कूलों के विद्यार्थियों की उपलब्धि सरकारी स्कूलों की तुलना में अधिक होती है। इनकी स्वीकृति और इनके प्रति बढ़ता आकर्षण रटंत प्रणाली, परीक्षोन्मुख शिक्षण अधिगम को बनाए रखने का उदाहरण है। यहां अध्यापक केवल किताबी ज्ञान देते हैं। इनमें से अधिकांश किताबें निजी प्रकाशकों की होती हैं। इस तरह के माहौल में जानने वाले की सत्ता, सक्रियता और सामाजिक सच्चाई के प्रति समझ आदि बातें गौण हो जाती हैं। यह आंकड़ा हमारे मापन में भी नहीं आ पाता है। उपलब्धि सर्वेक्षण तो बताते हैं कितने प्रतिशत जवाब सही थे? इन सही जवाबों को सीखने की विधि और सामग्री के प्रति वे पूरी तरह से मौन रहते हैं।

शिक्षा के लिए संसाधनों की उपलब्धता अपरिहार्य है लेकिन केवल यही शैक्षिक अवसरों की समानता को सुनिश्चित करे यह अनिवार्य नहीं है। इसी आधार पर अनिल सद्गोपाल (2016) संसाधन पूर्ति उपागम की आलोचना करते हुए

जोर देते हैं कि इसके मूल में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वित्तीय सहायता प्रदान करने वाली एजेंसियों का नवउदारवादी एजेंडा कार्य कर रहा है। इसके प्रभाव में 'नागरिक' उपभोक्ता बन गए हैं और राज्य बाजार की ताकतों का समर्थन कर रहा है। इस दशा में शैक्षिक अवसरों की समानता के बहाने सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक और भौगोलिक असमानताओं को 'प्राकृतिक' सिद्ध किया जा रहा है। राज्य संसाधनों को प्रदान करने के बाद इसके उपभोगकर्ताओं की सफलता और विफलता से अपना पल्ला झाड़ ले रहा है। वह केवल प्रचारित कर रहा है कि गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अवसरों की कमी नहीं है लेकिन शिक्षा की प्रक्रिया में भागीदारी, अन्तःक्रिया, पारस्परिक संबंधों और निर्णय लेने की प्रक्रिया में हाशिए के समाज के लिए अवसरों की उपलब्धता में इसका कोई योगदान नहीं है। वाइनर (1991) बताते हैं कि संसाधनों के वितरण की प्रक्रिया में वर्चस्वशाली वर्ग का प्रभाव रहता है। यह वर्ग नीति और राज्य के दबाव में संसाधन तो उपलब्ध करा देता है लेकिन इनकी शासन करने की इच्छा हाशिए के समाज के लोगों के शैक्षिक अवसरों को बाधित करती है। ये लोग अपनी अन्तःक्रियाओं और आपसी रिश्तों में हाशिए के समुदाय से आने वाले बच्चों के प्रति उदासीन रहते हैं। हाशिए के समुदाय के लिए शैक्षिक अवसरों की समानता व उनकी जरूरतों को संबोधित करने के लिए केवल वस्तु या धन की आवश्यकता नहीं है। समानता के लिए संसाधन के साथ मुख्यधारा में स्वीकृति, सम्मान, स्वागत, भागीदारी की भी आवश्यकता होती है। केवल विभिन्न पृष्ठभूमियों के विद्यार्थियों के स्कूल आ जाने मात्र से समानता सुनिश्चित नहीं हो जाती है। यह अवसरों की समानता का आरंभ बिंदु है। उनके साथ स्कूल में कैसे व्यवहार किया जा रहा है? उन्हें कितनी स्वीकृति है? उनके समाज और इतिहास की पाठ्यक्रम और स्कूल की अन्य गतिविधियों में कैसी प्रस्तुति है? विद्यार्थियों के समुदाय और परिवार की स्कूल के निर्णयों में कितनी भागीदारी है? आदि पहलु उनके समायोजन के साथ ही सीखने को भी प्रभावित करते हैं। अवसरों की समानता के इन पक्षों को नैंसी फ्रेजर (1995) स्वीकृति और राजनीतिक भागीदारी द्वारा सामाजिक न्याय की संज्ञा देती हैं। आपके अनुसार शैक्षिक अवसरों की समानता कोई संज्ञा नहीं बल्कि 'क्रिया' है जो अवसरों और संभावनाओं के रास्ते को खोलती है। यह अपने भागीदारों के अस्मिता बोध को मजबूत करती है। स्कूली ज्ञान और जानने के तरीकों को पुनर्परिभाषित करते हुए सांस्कृतिक अंतराल को पाटती है। अवसरों की समानता के इस स्वरूप का आकलन केवल उपलब्धि मापन से संभव नहीं है।

क्या शैक्षिक अवसरों की समानता व गुणवत्ता की दृष्टि से गांवों के स्कूल हाशिए पर हैं?

भारत के गांवों में स्कूली शिक्षा की स्थिति के बारे में होने वाले अधिकांश शोधों ने असर की रिपोर्ट को महत्वपूर्ण स्रोत माना है (अग्रवाल, 2014; फ्रेंच और किंगडन, 2010)। यह अवलोकनीय है कि अब तक असर के 6 सर्वेक्षण प्रकाशित हो चुके हैं। ये सभी भारत के गांवों में स्कूली शिक्षा की खराब सेहत को दर्शाते हैं। असर के अलावा गांवों में शिक्षा की स्थिति को मापने के अधिकांश सर्वेक्षण उपलब्धि, उपस्थिति, संसाधन की उपलब्धता जैसे आयामों पर इन्हें पीछे ही बताते हैं (प्रिन्चेट और बीटी, 2005, अल्कॉट और रोज 2017)। लेकिन किससे? गांवों के स्कूलों का यह पिछड़ापन सापेक्षिक होता है। प्रायः ये आधुनिक नगरीय स्कूलों की तुलना में पीछे होते हैं। इसका अवलोकन हम असर रिपोर्ट में भी कर सकते हैं। इस तरह के सर्वेक्षणों में शिक्षा की निराशाजनक स्थिति का कारण विद्यार्थियों के परिवारों की कमजोर आर्थिक हैसियत, शिक्षकों की अनुपस्थिति, शिक्षण में नवाचार के अभाव, नगर जैसे अन्य संसाधन केन्द्रों से दूरी, सुविधाओं के अभाव, जागरूकता की कमी आदि को बताते हैं। इन तर्कों में अंतर्निहित है कि गांव स्वाभवतः आधुनिकता जनित नवाचार और प्रयोगों के प्रभाव से दूर स्थित भौगोलिक इकाई हैं (गुप्ता, 2004)। किसी भी नए प्रयोग का प्रवाह उन तक नहीं पहुंच पा रहा है। इस दशा में यह निहितार्थ निकलता है कि गांव की उक्त कमी को पूरा करने के लिए राज्य, शिक्षण और प्रयोग आदि की उन गतिविधियों को करने-करवाने का माहौल तैयार करे जो सफल केन्द्रों यानि नगरों में हो रही हैं। इस तरह से सफलता के पर्याय के रूप में शहर की संस्कृति का उत्पादन शिक्षा का लक्ष्य हो जाता है। इसी लक्ष्य में शिक्षा सफल नहीं हो रही है। असर की रिपोर्ट भी यही संकेत करती है। शिक्षा के इस तरह के लक्ष्य से गांव को दोहरा नुकसान हो जाता है। पहला, तो गांव के बच्चों को अपनी मूल संस्कृति से

कटना होता है दूसरा, नई संस्कृति में उनकी प्रस्तुति ही पिछड़े और असफल की होती है। इसका ठीकरा व्यवस्था के कारणों में न देखकर गांव वालों के सिर फोड़ दिया जाता है। जब राज्य ने संसाधन उपलब्ध करा दिए और गांव के केन्द्रों पर नगर जैसा माहौल तैयार कर दिया तब भी बच्चे असफल हो रहे हैं तो कम से कम जिम्मेदारी राज्य की नहीं होगी क्योंकि उसने संसाधन के वितरण के प्रयास तो किए हैं। बच्चों को सीधे-सीधे दोष देना बाल केन्द्रित शिक्षा की कसौटियों से मेल नहीं खाता। ऐसी दशा में सिद्ध किया जाता है गांव ही ऐसी इकाई है जो गुणवत्तापूर्ण शिक्षा में बाधक है। जबकि अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में बताया गया है अनेक सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक बाधाओं के बावजूद गांव के लोग, चाहे वे भूमिहीन मजदूर ही क्यों न हो, शिक्षा के महत्व को स्वीकार रहे हैं। अपने बच्चों को स्कूल भेज रहे हैं। वे चाहते हैं कि उनके बच्चे स्कूल में बने रहें (अजीम प्रेमजी फाउण्डेशन, 2004)। इसी तरह सुधा नारायन और सौम्या धनराज (2017) ने अपने अध्ययन में पाया कि गांव के बच्चे घर के कामों के लिए स्कूल की अवधि से समझौता नहीं करते बल्कि वे अपनी अन्य गतिविधियों जैसे- खेल आदि का समय घरेलू कार्यों को देते हैं। इस तरह के अध्ययन प्रमाण हैं कि गांव की आबादी औपचारिक शिक्षा में भागीदार बनने को तैयार है और बन रही है। लेकिन जब गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का आशय केवल विद्यार्थियों की उपलब्धियों से लिया जाता है तो उनकी भागीदारी और शिक्षा की तत्परता अंकों में गुम हो जाती है।

गांवों के स्कूलों में स्थानीय अधिगम पारिस्थितिकी को अस्वीकृत करके नगरीय पारिस्थितिकी के समतुल्य कृत्रिम परिवेश का निर्माण करके शिक्षण किया जाता है (कुमार, 2014)। इस पूरी प्रक्रिया में हम गांव को आर्थिक, भौगोलिक और जनांकिकीय इकाई मानते हैं जबकि यह एक सांस्कृतिक इकाई भी है जिसका अस्तित्व केवल नगर के 'विलोम' रूप में नहीं है। यह जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना की इकाई हैं जहां भारतीय समाज की विविधता और विभेद अपने वास्तविक रूपों में सक्रिय हैं। आज के गांव 20 वीं शताब्दी के गांवों की तरह अध्ययन की बंद इकाईयां नहीं हैं बल्कि वे सूचना क्रांति और वैश्वीकरण के प्रभाव में समय व दूरी के पैमानों पर नगरों से अपना रिश्ता कायम कर चुके हैं (जोधका, 2012)। अन्य संस्थागत संरचनाओं के समान स्कूल भी इनके प्रभाव में आ चुके हैं। समस्या यह है कि शिक्षा और इस जैसे अन्य हस्तक्षेपों की कार्ययोजना में जिस 'उत्थान उपागम' को अपनाया जाता है वह 'गंवईपन' से मुक्त करे या न करे, लेकिन 'गांव' से मुक्त होने के लिए अभिप्रेरित जरूर करता है। तो क्या मान लिया जाए कि गांव स्वभावतः ऐसी इकाई हैं जहां शिक्षा की संस्थाएं, संसाधन और प्रयास असफल हो रहे हैं? या ऐसा है कि जो शिक्षा हम देना चाह रहे हैं वह गांव के लिए है ही नहीं। अक्सर ऐसे तर्क दिए जाते हैं गांव नगर और प्रशासनिक केन्द्रों से दूर हैं, वहां संसाधन की उपलब्धता नहीं है, वहां शिक्षा की सेवा देने वाले नहीं है। इनका आधार नागरिकता और आधुनिकता का वह चश्मा है जो विकास और नगर को एक दूसरे का पर्यायवाची मानता है। जिसका मानना है कि नगर के अतिरिक्त अन्य सांस्कृतिक भौगोलिक इकाइयों को नगर बन जाना चाहिए (कुमार, 2014)। इस मान्यता के साथ काम कर रही योजनाएं बच्चों की असफलता के लिए गरीबी को उत्तरदायी मानती हैं जबकि गांवों की सामाजिक-सांस्कृतिक गतिकी कैसे संसाधनों पर अधिकार, उत्पादन और उपभोग की प्रवृत्तियों और रोजमर्रा के सामाजिक व्यवहारों व अन्तःक्रियाओं द्वारा कुछ लोगों को हाशिए पर ढकेल रही है इस पर विचार नहीं किया जाता है। आधुनिक भारत के स्कूलों के इतिहास ने जिस आभिजात्य रंग से इस संस्था को रंग दिया है उसके कारण भी गांव और नगर का सांस्कृतिक अंतराल इतना गहरा हो चुका है कि शिक्षा की पूरी प्रक्रिया में गांव पीछे होता जा रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से गांव के स्थानीय अभ्यासों, रीति-रिवाजों, बोली-भाषाओं यहां तक की देशज ज्ञान आदि को औपचारिक शिक्षा में न के बराबर जगह मिल रही है। इससे एक सांस्कृतिक असंबद्धता पैदा हो रही है जिसे भवन, शिक्षक, किताब, दोपहर के खाने और कम्प्यूटर आदि से नहीं पाट सकते हैं। इसी का परिणाम है कि गांव के सरकारी स्कूल अनकही विभाजक रेखा बन गए हैं जो आर्थिक, धार्मिक, जेंडर, और जातिगत वंचितों के लिए हैं। इनके लिए स्कूल एक 'दूसरी दुनिया' बनता जा रहा है। वे अपनी मूल दुनिया से इस दूसरी दुनिया की यात्रा में खुद को अनुकूलित नहीं कर पा रहे हैं। औपचारिक शिक्षा की एक सांस्कृतिक पारिस्थितिकी होती है। इस सांस्कृतिकी पारिस्थितिकी में

स्कूल और उसके भीतर की दुनिया से कहीं अधिक बाहर की दुनिया का हिस्सा होता है। इस पूरी पारिस्थितिकी के प्रभाव में अधिगम होता है और सीखने की प्रक्रिया अधिगम पारिस्थितिकी को भी प्रभावित करती है। इसी कारण गांव के स्कूलों के शहरीकरण का परिणाम बच्चों की उपलब्धि में नहीं दिख रहा है। विडंबना देखिए हम उपलब्धि के अंतराल की व्याख्या सामाजिक-सांस्कृतिक हीनता द्वारा कर रहे हैं। जबकि सच्चाई है कि गांव और शहर की स्थानिक इकाइयों के सापेक्ष शिक्षा का शहरीकरण गांव के बच्चों की आनुभविक दुनिया को सीमित कर देता है। इस आनुभविक दुनिया में सामाजिक सच्चाइयां, पुरातनपंथी विचार, देशज ज्ञान, सांस्कृतिक आख्यान सभी सम्मिलित होते हैं। इस दुनिया का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने और अपने हस्तक्षेप से इसकी पुनर्रचना करने वाले नागरिकों का निर्माण शिक्षा का लक्ष्य है। इस दुनिया से काटकर सर्जनशील मस्तिष्क की रचना नहीं हो सकती। हां यह जरूर है कि उत्पादक श्रमिक तैयार हो जाएगें!

यदि स्कूलों की दशा, विशेष रूप से गांव के स्कूलों को सुधारना है तो केवल संसाधन सुलभता और उपलब्धि मापन की दृष्टि से बाहर निकलना होगा और सामाजिक-सांस्कृतिक जड़ताओं को तोड़ते हुए उन्हें ऐसे स्थान के रूप में देखना होगा जहां सीखना वैसे ही संभव है जैसे किसी आदर्श प्रयोगशाला रूपी विद्यालय में। तभी शिक्षा के द्वारा सामाजिक -राजनीतिक समानता के वृहद् लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा। हमें मानना होगा कि सभी बच्चे स्कूल जाएं और सबको गुणवत्तापूर्ण शिक्षा मिले, ये दो धाराएं न होकर एक दूसरे से परस्पर संबंधित और अपरिहार्य शर्तें हैं। इनमें से किसी एक को पूरा करके संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता है। बच्चों की असफलता का ठीकरा केवल स्कूल के संस्थागत कारणों पर नहीं फोड़ा जा सकता। अक्सर संसाधनों का अभाव और शिक्षकों के गैर पेशेवर रवैये को दोष दिया जाता है। इतना तो तय है कि उन्हें कटघरे में खड़ा करके हल नहीं खोजा जा सकता है। इस समस्या के समाधान के वे केन्द्रीय अभिकर्ता हैं। उन पर संदेह करने और उनके कार्यों की निगरानी के बजाय विश्वास करना होगा। उन्हें समर्थ बनाना होगा कि वे समानता के लिए शिक्षा के रूपान्तरणकारी लक्ष्य में भागीदार बने। इसी तरह पाठ्यचर्या के बोझ को कम करना, पास-फ़ेल की नीति में बदलाव या बाल केन्द्रित शिक्षा के बहाने संसाधनों की भरमार का तर्क भी उम्मीद नहीं बढ़ाता है। ऐसे तर्कों को सर्व शिक्षा अभियान के जमाने से आजमाया जा रहा है। सीखने की विधि, सामग्री और दिनचर्या को बच्चे के संदर्भ के अनुसार अनुकूलित करना होगा। यह विचार करना होगा कि कैसे शिक्षा की प्रक्रिया में 'गांव' और 'नगर' का अंतर कम हो सके। हमें गांव के बच्चों को 'शहरों वाली स्कूली' शिक्षा देने के स्थान पर गांव के समाज, कुदरत और संस्कृति के साथ पढ़ाना होगा। हमें समुदाय की भागीदारी को भी सार्थक बनाने का प्रयास करना होगा। हमें पूर्व प्राथमिक शिक्षा, बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण की सुविधा को मजबूत करना होगा। इससे औपचारिक स्कूली शिक्षा की तैयारी और सीखने की तत्परता में सहयोग मिलेगा। अंततः यह स्थापित करना होगा कि समस्या न तो बच्चे के संज्ञान में है न ही उसकी पृष्ठभूमि में बल्कि राज्य और उसके अभिकर्ताओं को बच्चों के लिए शिक्षा का अधिकार सुनिश्चित करने का हर संभव प्रयास करना है।

आभारः इस लेख पर अपनी राय देने के लिए लेखकद्वय श्री प्रमोद पाठक, श्री मनीष और श्री समरजीत यादव के आभारी हैं। ◆

लेखक परिचय : सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा।

संपर्क : 7057392903; rishabhrkm@gmail.com

संदर्भ

- Agrawal, T. (2014). Educational inequality in rural and urban India. International Journal of Educational Development, 34, 11-19
- Alcoot, B. and Rose, P. (2017). Learning in India'a primary schools: How do disparities widen across the grades? International Journal of Educational Development, 56, 42-51

- Annual Status of Education Report (2019). Annual Status of Education Report-2018. New Delhi: Aser Centre
- Azim Premji Foundation (2004). The social context of elementary education in rural India. (http://righttoeducation.in/sites/default/files/TheSocialContextofElementaryEductaioninRuralIndia.pdf)
- Fraser, N. (1995). From redistribution to recognition: Dilemmas of justice in a 'postsocialist' age. New Left Review, 212(7), 68-93
- French, R. and Kingdon, G. (2010). The relative effectiveness of private and government schools in rural India: Evidence from ASER Data. DoQSS Working Paper No. 10. London: Institute of Education
- Gupta, D. (2004). Whither the Indian Village? Culture and agriculture in rural India. Chennai: Madras Institute of Development Studies.
- Jodhka, S. (Ed.) (2012). Village Society. New Delhi: Orient Black Swan.
- Kumar, K. (2005). Quality of Education at the beginning of 21st Century- Lessons from India. Indian Education Review, 41 (1), 4-26.
- Kumar, K. (2014). Rurality, Modernity and Education. Economic and Political Weekly, 59 (22), 1-6.
- Marino, S. and Nino-Zarazua, M. (2016). What works to improve the quality of student learning in developing countries. International Journal of Educational Development, 48, 53-65
- Muralidharan, K. & Kremer, M., (2008). Public and private schools in rural India. In Peterson, P., Chakrabarti, R. (Eds.), School Choice International. Cambridge: MIT
- Narayanan, S. and Dhanaraj, S. (2017). Child work and Schooling in rural north India. Working Paper 157/2017. Chennai: Madras School of Economics
- Nawani, D. (2018). Assessing ASER 2017: Reading between the lines. Economic and Political Weekly. 53(8), 14-18
- Pritchett, L. and Beatty, A. (2015). Slow Down, You are going too fast: Matching curricula to student skill levels. International Journal of Educational Development, 40, 276-288
- Sadgopal, A. (2016). An agenda of exclusion: 'Skill India' or Deskilling India. Economic and Political Weekly, 51(35), 33-37
- Sarangpani, P. (2010). Qualtity concerns: National and Extra National Dimensions. Contemporary Education Dialogue, 7(1), 41-51
- Weiner, M. (1991). The Child and the State in India. New Delhi: Oxford University Press.

शिक्षा का स्वरूप

मानवीय चेतना से तय हो न कि बाजार की जरूरतों से

आलोक कुमार मिश्रा

मोहल्ले में हमारे एक पड़ौसी की चर्चा उनकी तीन साल की बेटी की वजह से आजकल खूब जोरों पर है। कारण है तोतली आवाज में बच्ची द्वारा कुछ याद करा दिए गए प्रश्नों का उत्तर अंग्रेजी में फटाफट देना। अधिकतर प्रश्न सामान्य ज्ञान टाइप के हैं जिन्हें दूसरों के सामने वह पड़ौसी दम्पति बड़े विश्वास के साथ बच्ची से अंग्रेजी में पूछता है और बच्ची भी कभी खुश होकर, कभी ऊबते हुए उनका उत्तर फटाफट देती जाती है। प्रश्नों की खास प्रवृत्ति यह भी है कि उसमें अमेरिका संबंधी भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक जानकारी पर फोकस है। यह दम्पति हर बार की प्रश्नोत्तरी के बाद यह बताना और जताना नहीं भूलता कि वे अपनी बेटी को पढ़ने के लिए यूएसए भेजेंगे और इसी की तैयारी के लिए उसका दाखिला एक मंहगे इंगलिश मीडियम प्राइवेट स्कूल में कराया गया है। हमारे यहां बच्चों के लिए अपेक्षाओं से पगे भविष्य की तैयारी वैसे तो लगभग हर मां-बाप के लिए सामान्य बात है। पर मध्यवर्गीय परिवारों में अपेक्षाओं का यह बोझ पूंजीवादी प्रतियोगी बाजार व्यवस्था में टिके रहने के लिए निरंतर कौशल विकास करते रहने, अंग्रेजी में पारंगत होने जैसी खुद उनके द्वारा भोगे गए अनुभव से निर्मित होता है। इन अनुभवों में रचनात्मकता और आलोचनात्मक क्षमता जैसे गुणों के विकास की जगह निर्देशों के कुशलतापूर्वक पूर्ण होने, किसी खास काम को करने में निपुण होने जैसी बातें ज्यादा जरूरी मानी जाती हैं। चूंकि निरंतर परिवर्तनशील बाजार व्यवस्था में टिके रहने के लिए भी कोई गारंटी नहीं होती इसलिए बदलाव के अनुरूप हमेशा तैयार रहना और वो भी बिना कुछ सोचे समझे या प्रश्न उठाये बहुत जरूरी है। यहां शिक्षा की भूमिका मात्र आर्थिक संरचना और उसके लक्ष्यों की पूर्ति करने वाले साधन की है। पर क्या यह पर्याप्त है? क्या मानव जीवन का लक्ष्य चल रही व्यवस्था में जगह बनाना मात्र है? इसमें स्वयं उसकी इच्छा, क्षमता, रचनात्मकता और विकास के अवसर के लिए क्या कोई जगह है?

हाल ही में एक संगोष्ठी में बोलते हुए प्रमुख शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार ने वर्तमान में प्रचलित शिक्षा के इसी सीमित आर्थिक समझ पर आधारित होने पर अपनी निराशा जताते हुए इसे भावी पीढियों के लिए खतरनाक बताया। उनके अनुसार इतनी असुरक्षित और गैर टिकाऊ विकास पर आधारित यह दुनिया ज्यादा आगे तक नहीं जा सकती। इसके लिए हमें अपने बच्चों को जागरूक, संवेदनशील और आलोचनात्मक चेतना से लैस बनाना होगा जिससे वे उपयोगी व सकारात्मक हस्तक्षेप करने योग्य बनें, अपने आसपास की दुनिया की समस्याओं की समझ बनाते और उससे जूझते हुए निदान ढूंढ पाएं। पर आज जब बस टिके रहने हेतु आवश्यक आर्थिक कौशल को ही शिक्षा का पर्याय माना जा रहा हो, समाज और प्रकृति की स्वभाविक विविधता से परे एकल व उग्र राष्ट्रीय पहचान पर लोगों को भावुक बनाकर भ्रमित किया जा रहा हो तो इन पर कैसे बात की जाए? कैसे मौजूदा स्वरूप और विमर्श को बदलकर शिक्षा के व्यक्तिगत और सामूहिक लक्ष्यों की पुनर्व्याख्या की जाए?

इसका कोई एक जवाब तो निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता। मजबूती से जम चुकी पूंजीवादी-बाजारवादी अर्थव्यवस्था जो प्रतियोगिता के नियम और लाभ के उद्देश्य से संचालित है, शिक्षा व्यवस्था को भी इसी के अनुरूप सहयोजित करने में लगी हुई है। आज भले ही विभिन्न देशों में निर्धारित और घोषित शैक्षिक पाठ्यचर्या स्वयं में लोकतांत्रिक- मानवीय मूल्यों व लक्ष्यों से लैस दिखती हो किंतु व्यवहारिक रूप से इसे व्यक्त नहीं करती। हमारे देश में इस समय स्कूलों में पढ़ाए जा रहे पाठ्यक्रम और समस्त शैक्षिक प्रक्रियाएं 'राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, 2005' पर आधारित होने का दावा करती हैं। यह दस्तावेज स्कूलों में बच्चों की व्यक्तिगत भिन्नताओं-क्षमताओं को सम्मान देते हुए अधिगम के अवसर देने, विविधताओं को सम्मान देते हुए लोकतांत्रिक मूल्यों का विकास करने, अपने आस-पास के परिवेश से जुड़ने, समस्याओं पर चिंतन करने और आलोचनात्मक चेतना से लैस होकर निर्णय लेने योग्य बनाने जैसे वृहद शैक्षिक लक्ष्यों को स्वयं में समाहित किए हुए है। पर वास्तविकता में हमारी शिक्षा व्यवस्था आज भी रटन्त आधारित और परीक्षा परिणामों पर केन्द्रित बनी हुई है। स्कूलों में भी निजी और सरकारी का विभाजन इसके शैक्षिक स्वरूप को गहरे तक प्रभावित करता है। इस मोटे विभाजन में भी कई अन्य तरह के स्तरीकरण समाहित हैं। जैसे निजी में कुछ बहुत मंहगे स्कूल जो स्वयं को अंतर्राष्ट्रीय स्तर के होने का दावा करते हैं तो कुछ कम मंहगे और साधारण मध्यवर्गीय लोगों की आर्थिक क्षमता के अनुरूप अंग्रेजी माध्यम स्कूल हैं। वहीं सरकारी स्कूलों में भी अलग-अलग सामाजिक, आर्थिक समूहों के हितों और हैसियत के अनुरूप स्कूलों की श्रृंखला है। जैसे बिल्कुल साधारण व सामान्य सरकारी स्कूल जिसमें अधिकांशतः गरीब घरों के बच्चे शिक्षा लेते हैं। ग्रामीण मध्यवर्गीय परिवारों की अपेक्षाओं के अनुरूप नवोदय विद्यालय, सरकारी कर्मचारियों के बच्चों हेतु केन्द्रीय और सैनिक स्कूल इसी तरह प्रतिभा और एक्सीलेंस जैसे अंग्रेजी माध्यम स्कूल आदि। स्कूली व्यवस्था में व्याप्त यह स्तरीकरण 'शिक्षा के' और 'शिक्षा में' निर्धारित किए गये लोकतंत्रीकरण के लक्ष्यों को बाधित करता है। नई शिक्षा नीति, 1986 के समय से ही 'समान स्कूल व्यवस्था' (कॉमन स्कूल सिस्टम) के लिए घोषित किए गये राष्ट्रीय संकल्प को पूरा करके ही इस विचलन को दूर किया जा सकता है। इसमें 'पड़ोस के स्कूल में ही सबके लिए अनिवार्य शिक्षा' और 'प्राथमिक शिक्षा में मातृभाषा को माध्यम बनाने' जैसे कदम काफी मददगार हो सकते हैं। मुझे याद है कि अभी दो-ढाई दशक पहले भी मेरे बचपन के दिनों में अपनी तमाम कमियों और सीमाओं के बावजूद विविधताओं के समायोजन व समावेशन में स्कूली व्यवस्था कहीं अधिक सफल थी। आस-पास के गांवों और उनमें रहने वाले विभिन्न समुदायों के बच्चे वहां उपलब्ध सरकारी स्कूल में ही पढ़ने आते थे। निजी स्कूल इक्के-दुक्के ही थे। यह परिस्थिति वास्तव में कहीं अधिक लोकतांत्रिक और सीखने के अनुकूल थी। आखिर बच्चों के मध्य व्याप्त यह विविधता, अंतर व अनेकानेक अनुभव जन्य जीवन दृष्टि उन्हें आपस में संवेदनशील, सहिष्णु, उदार और दूसरों के नजरिये से सोचने-समझने योग्य बनाती थी जिसे किसी किताब से नहीं सीखा जा सकता। आज हम भले ही वैश्विक नागरिकता की बात करते हों किन्तु उसमें समाहित विचारों का आर्थिक पक्ष ही व्यवहार में सबल दिखाई देता है जिसमें पूंजी, वस्तु, सेवाओं और श्रम का अबाध प्रवाह व एकीकरण शामिल है। हालांकि इस सीमित समझ को भी हाल में उभरी दक्षिणपंथी राजनीतिक लहर ने कमजोर किया है। वैश्विक नागरिकता की संकल्पना में स्थानीयता के महत्व, संस्कृतियों के सह-अस्तित्व, लोकतांत्रिक अधिकारों व मानवीय मूल्यों की स्वीकार्यता, पर्यावरणीय चिंताएं आदि को स्थान देना और शिक्षा की अंतर्वस्तु में इसे पिरोना बहुत आवश्यक है। हमारे समय की बहुत-सी समस्याएं तभी सुलझ सकती हैं। राष्ट्रवाद की संकीर्ण और नई लहर लोगों को भ्रमित करके उन्हें गैर जरूरी मुद्दों में उलझा रही है। शिक्षा को इन स्थितियों से जूझना होगा। पर इसके लिए स्वतंत्र चेता लोगों को लड़ाई लड़नी होगी। अधिकतर मामलों में प्रभावशाली-वर्चस्वपूर्ण समूहों के हितों द्वारा संचालित राजसत्ता शिक्षा में आसानी से इन बदलावों के लिये तैयार नहीं होगी। वर्तमान स्कूली संरचना में व्याप्त स्तरीकरण जहां विभेदों को मजबूत बनाती है वहीं घोषित शैक्षिक लक्ष्यों को भोंथरा भी। इसके अलावा शिक्षा की प्रक्रिया में ऐसे आर्थिक कौशलों को भी समाहित करना होगा जो हमारे बच्चों को बड़े होने पर आत्मनिर्भर, स्वतंत्र और खुशहाल जीवनयापन योग्य बनाए न कि निर्देशों को मानने वाले रोबोट जो बस दूसरों की इच्छा या कृपा पर निर्भर हों।

वर्तमान पूंजीवादी बाजार व्यवस्था अपनी वृहद उत्पादन प्रणाली और मुनाफाखोर प्रवृत्ति से मात्र प्रकृति का अंधाधुंध दोहन करके पर्यावरण व जीविका संबंधी संकट ही पैदा नहीं कर रही अपितु इसके एक प्रमुख परिणाम के रूप में कुछ प्रतिशत लोगों के हाथ में विश्व की अधिकांश संपत्ति का संकेन्द्रण भी कर रही है। यही कुछ लोग बेतहाशा

संसाधन अपव्यय कर रहे हैं और अभावों में जी रहे अधिकांश लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले निर्णय लेने का अधिकार भी इन्हीं के हाथों में आता जा रहा है। आधुनिक लोकतंत्रिक देशों में चुनावों में धन की भूमिका में हो रही बेतहाशा वृद्धि इसका एक उदाहरण है। पिछले दिनों इन्हीं सब से तंग आकर अमेरिका में लोगों ने निन्यानवे बनाम एक प्रतिशत का नारा देते हुए पूंजीवादी वर्चस्व के खिलाफ झंडा बुलंद किया था। वर्चस्व जमा चुकी यह बाजार व्यवस्था अपने जटिल उत्पादन व वितरण व्यवस्था में लोगों की क्षमता को खंडित करते हुए उन्हें उनके ही श्रम और उत्पादित वस्तु पर नियंत्रण या उसके निर्धारण से अलग कर देती है। शिक्षा में भी अपने इसी स्वरूप के अनुरूप वह निर्देशित भूमिका को मानने वाले और खंडित कौशल से लैस श्रमबल तैयार करने पर जोर देती है। इस खंडित कौशल को हम इस तरह समझ सकते हैं कि एक पूर्ण उत्पाद जैसे कार या कोई मशीन पूरी तरह से कोई एक व्यक्ति नहीं बनाता या बना सकता है, इसके लिए अलग-अलग पार्ट अलग-अलग लोग बनाते हैं। वास्तव में यह विखंडन स्वयं मनुष्य का भी विखंडन है जिसमें उसकी स्वायत्तता, लगाव व स्व का निषेध हो जाता है। इसमें व्यक्ति अपने परिवेश या समाज की चिंता से दूर अपनी ही उत्तरजीविता को बनाए रखने के प्रयास से नहीं निकल पाता। जबकि इस व्यवस्था से पहले अधिकतर कामों में लगे लोग चाहे वह किसान हों या कुम्हार हों या कोई और अपने काम में पूर्ण कुशल व निर्धारक की भूमिका में थे। शिक्षा को वह रास्ता तलाशना होगा जिससे वह इस आर्थिक दबाव से मुक्त होकर पूर्ण मनुष्यता का पाठ पढ़ा सके।

इन गुणात्मक बदलावों की सिद्धि हेतु बच्चों में आलोचनात्मकता, रचनात्मकता और संवेदनशीलता का विकास बहुत मायने रखता है। निर्देशित शिक्षण के बजाय उन्हें अपने संदर्भ में समस्याओं को पहचानने, उनका निदान ढूंढ़ने, पहल करने, सकारात्मक हस्तक्षेप कर पाने, दूसरे के नजरिये से सोच सकने व विविधताओं के लाभ समझ पाने जैसे अनुभव प्राप्त करने के भरपूर अवसर मिलने चाहिए। तभी वे इस संकटग्रस्त दुनिया को बेहतरी की ओर बढ़ाने में सक्षम बन पाएंगे साथ ही फिजूल में खड़े किए गए मुद्दों और संकीर्णताओं के जाल से निकलकर मानवतापूर्ण समाज की स्थापना कर पाएंगे। इस उद्यम में आधारभूत संरचना के विकास सहित कक्षा-कक्ष की शिक्षण-अधिगम प्रक्रिया और शिक्षकों के प्रशिक्षण में प्रासंगिक बदलाव भी बहुत महत्वपूर्ण है। शिक्षा जैसे नितांत जरूरी मुद्दे पर भी हमारे देश में गहरी सरकारी उदासीनता दिखाई देती है जिसके परिणामस्वरूप निजी स्कूलों की बाढ़-सी आ गई है। सरकारी शिक्षा व्यवस्था की खस्ताहालत और छवि धूमिल होने से लोग भी अपने बच्चों को निजी स्कूलों के हवाले कर रहे हैं। यह प्रवृत्ति निरंतर चालू है। पर एक महत्वपूर्ण बदलाव को यहां जरूर रेखांकित करना चाहूंगा, वो है पिछले कुछ वर्षों में दिल्ली के सरकारी स्कूलों की स्थिति में सुधार हेतु किये जाने वाले प्रयास। एक शिक्षक के रूप में मैंने इसे बहुत करीब से अनुभव किया है कि संरचनागत बदलावों के साथ-साथ मूल्यांकन, कक्षा-कक्ष में प्रक्रिया, सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण आदि में बदलाव हेतु सरकार द्वारा सचेष्ट प्रयास किए जा रहे हैं। यद्यपि इसके परिणाम दीर्घकाल में ही देखे जा सकेंगे। पर राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा न तो अभी तक मुख्य एजेंडा है और न ही इसमें बदलाव का कोई गंभीर प्रयास दिखाई देता है। इस मुद्दे पर बिना व्यापक सामाजिक जागरूकता और दृढ़ राजनीतिक प्रतिबद्धता के वांछित बदलाव होना मुश्किल है। सामाजिक, राजनीतिक व मानवीय चेतना की विरासत जिसे विश्व स्तर पर हमने फ्रांस व रूस की क्रांति, फांसीवादी संकटों के सबक आदि से तथा अपने देश में उपनिवेशवाद विरोधी स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान उपजी राष्ट्रीय सहमति से अर्जित किया और जिसे हमारा संविधान भी अभिव्यक्त करता है, हमें इसे सहेजना होगा। यह मानवीय विरासत ही हमें मार्ग दिखा सकती है। आज धर्मनिरपेक्षता, विविधता और सह-अस्तित्व के विचारों पर बढ़ रहे खतरों से निपटने में हमें प्रत्येक क्षेत्र की पुनर्रचना करनी होगी। हमें गंभीर होकर सोचना पड़ेगा कि शिक्षा का स्वरूप चंद पूंजीपतियों के हितों से संचालित बाजार निर्धारित करेगा या हमारे सामूहिक इतिहास और विकास यात्रा में निर्मित श्रेष्ठ मानवीय चेतना इसे आकार देगी। बेशक दूसरा विकल्प ही हमें बचा सकता है। ◆

लेखक परिचय : दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए. (राजनीति विज्ञान), एम.एड., एम.फिल. (शिक्षाशास्त्र) वर्तमान में दिल्ली के सरकारी विद्यालय में सामाजिक विज्ञान के शिक्षक के रूप में कार्यरत।

संपर्क : 9818455879; alokkumardu@gmail.com

पर्यावरण अध्ययन का एक अध्याय

''मंडी से घर तक'' पर शिक्षकों व बच्चों के साथ काम की झलक

कालू राम शर्मा

शिक्षकों की पेशेवर तैयारी के मद्देनजर मध्यप्रदेश में शैक्षिक संवाद का आयोजन किया जाता रहा है। इस मौके पर आदिवासी जिले खरगोन के गोगांवा जनशिक्षा केंद्र के शिक्षकों के साथ पर्यावरण अध्ययन पर बातचीत की गई। मध्यप्रदेश में जब से एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तकें लागू हुई है तब से हालिया समझ यह है कि पर्यावरण अध्ययन विषय का अध्यापन कक्षाओं में बाधक बना हुआ है क्योंकि इस विषय में बच्चों को प्रश्न-उत्तर जैसा लिखवाने को कुछ है ही नहीं।

मेरी योजना में यह भी शामिल था कि किसी सरकारी स्कूल के बच्चों के साथ भी उसी अवधारणा पर पर कार्य किया जाए जिस पर शिक्षकों के साथ काम किया गया है। इस योजना का मकसद बच्चों के साथ पाठ्यपुस्तक के अध्याय पर कैसे कार्य किया जा सकता है व वे किस प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, यह समझना है। जिन बच्चों के साथ कार्य किया गया वे गोगांवा जन शिक्षा केंद्र के एक ग्रामीण स्कूल दयालपुरा के हैं।

शिक्षकों के साथ मंडी से घर तक पर बातचीत

पर्यावरण अध्ययन का नजरिया

शिक्षकों के साथ जो बातचीत हुई उसमें पर्यावरण अध्ययन के कुछ मसलों पर रोशनी डाली गई। मुझे लगता है कि शिक्षकों के साथ काम करते हुए नजरिए के मसलों को याद दिलाना या व्यक्त करना अपेक्षित होता है। ऐसी बातें बच्चों के साथ करने की जरूरत नहीं होती।

शुरुआत इस बात से की गई कि पर्यावरण अध्ययन का शिक्षण अपने परिवेश को शामिल करता है और बच्चों को करने, खोजने के अवसर देता है। पर्यावरण अध्ययन विशेषकर बच्चों में खोजी प्रवृति को बढ़ावा देने और हाथों से करके सीखने (प्रयोग, गतिविधियां आदि) से संबंध रखता है। कक्षा के बाहर की प्रवृतियां भी शिक्षण के अंग बननी चाहिए। बच्चे स्कूल में अनेक अनुभव व समझ लेकर आते हैं। इन अनुभवों को कक्षायी शिक्षण में शामिल करना अपेक्षित है।

पर्यावरण अध्ययन प्रकृति व समाज से जुड़ा विषय है। समग्र रूप से प्रकृति, समाज के मसलों व घटनाओं को आधार बनाकर विमर्श के मौके देने का विषय है। कक्षा की चहारदीवारी से बाहर निकलकर बच्चे प्रकृति व समाज में एक तय योजना के साथ जाएं व उनका अध्ययन करें।

प्रारंभिक कक्षाओं में कोशिश यह होनी चाहिए कि बच्चों के नज़रिए से अपने परिवेश की चीज़ों पर काम हो। बच्चे अपने 'आस-पास' की घटनाओं व चीज़ों को जिस नजरिए से देखते हैं उसे पोषित किया जाए व उसी को सीखने का आधार बनाया जाए।

पर्यावरण अध्ययन के नजरिए (पर्सपेक्टिव) पर अधिक शास्त्रार्थ न करते हुए एनसीईआरटी कक्षा चौथी के ''मंडी से घर'' तक नामक अध्याय पर विमर्श किया गया।

शिक्षकों के साथ पाठ्यपुस्तक पर कार्य की एक झलक

अध्याय की शुरुआत वैशाली नामक बच्ची के घर की कहानी से होती है। वैशाली के पिताजी सब्जी बेचते हैं। सब्जी बेचने के काम में घर के कौन-कौन सदस्य सहयोग करते हैं व उनकी दिनचर्या क्या होती है, यह बताया गया है।

पाठ्य (टैक्स्ट) के साथ ही एक सवाल दिया गया है।

क्या तुम्हारे घर में भी किसी को सुबह-बहुत जल्दी उठना पड़ता है? किस समय? किस काम के लिए?

इस सवाल पर हम ठहर गए कुछ वक्त के लिए। शिक्षकों से कहा गया कि आप अपने अनुभव बताइए। घर में सुबह जल्दी कौन उठता है? कब और किस काम के लिए?

शिक्षकों ने जो जवाब दिए वो इस प्रकार हैं :

- शिक्षिकाओं ने बताया कि सुबह-सुबह बच्चों को टिफिन बनाकर देना होता है।
- एक शिक्षक ने बताया कि उन्हें भैंस का दूध दुहना होता है इसलिए साढ़े पांच बजे उठना पड़ता है।
- योग करने के लिए सुबह जल्दी उठता हूं।
- खेत में जाना होता है।
- सुबह जल्दी उठना अच्छा लगता है।

वास्तव में हमारी दिनचर्या की शुरुआत में कितनी विविधता है यह इस सवाल के जरिए समझा जा सकता है। स्कूल में आने वाले बच्चों की पृष्ठभूमि को समझने में यह सवाल काफी अहम साबित हो सकता है। जिन बच्चों के साथ शिक्षण करते हैं उनकी घर की दुनिया कैसी होगी यह इस सवाल के जरिए समझा जा सकता है। हम जिस समाज में रहते हैं उसके क्रियाकलापों को समझना भी तो शिक्षा ही है।

इस तरह के खुले प्रश्न की खास बात यह है कि इनमें कोई भी जवाब गलत नहीं है। बच्चों को अभिव्यक्ति के अवसर अपने संदर्भ में मिलते हैं।

पर्यावरण अध्ययन में इस अध्याय को क्यों शामिल किया गया? एक शिक्षक ने पूछा। वास्तव में पर्यावरण अध्ययन के पाठ्यक्रम में उन तमाम चीजों को शामिल किया गया है जो बच्चों के संदर्भ में होती है। समाज क्या है, कैसे काम करता है, उसे परोक्ष रूप से चलाने में कौन लोग मदद करते हैं, भोजन, पानी, उत्सव और प्राकृतिक परिवेश जिसमें शामिल है- जंगल, पेड़-पौधे, जीव-जंतु, पानी, मिट्टी इत्यादि। ये सब पर्यावरण अध्ययन के पाठ्यक्रम का हिस्सा है।

पर्यावरण अध्ययन के संपूर्ण पाठ्यक्रम को छह थीमों में बांटा गया है- परिवार और मित्र, भोजन, पानी, आवास और हम चीजें कैसे बनाते हैं। अगर इन थीमों पर बने अध्यायों पर नजर डालें तो बच्चों को अधिक से अधिक अपने अनुभवों को साझा करने, खोजबीन करने को प्रेरित किया गया है। अध्याय के पाठ्य (टैक्स्ट) के बीच-बीच में भी सवाल दिए गए हैं जो बच्चों को अवलोकन करने, अनुभवों को व्यक्त करने, सोचने व आगे खोजबीन के लिए प्रेरित करते हैं। आमतौर पर हमारी शिक्षा व्यवस्था में सही-गलत की संस्कृति का बोलबाला है जहां बच्चे इस धारणा से ग्रसित होते दिखते हैं कि कहीं ''गलत तो नहीं बोल दिया या लिख दिया''। जब बच्चे अपने-अपने अनुभव प्रस्तुत करेंगे तो वहां ''सही-गलत'' का सवाल कहीं पीछे छूट जाता है। और एक उद्देश्य इन प्रश्नों का यह भी है।

सब्जी बेचने वाले की दिनचर्या

इस चर्चा के बाद अगला पाठ्य (टैक्स्ट) पढ़ा गया। वैशाली के बाबूजी सुबह जल्दी घर से निकल पड़ते हैं मंडी के लिए जहां से सब्जी खरीदते हैं। वैशाली का भाई छोटू, अम्मा और वह खुद पिछले दिनों की बची सब्जियों को बोरियों में भरकर पानी छिड़कते हैं...।

मैंने उनसे कहा कि आप सोच सकते हैं कि वैशाली का घर कैसा होगा? क्या आपके, हमारे घर जैसा होगा? इन्हीं हालातों में वैशाली और उसका भाई स्कूल भी जाते हैं। क्या हमारे घरों, परिवारों के बच्चे घर के कामों में हाथ बंटाते हैं? बात यह सामने आई कि मध्यमवर्गीय परिवारों के बच्चों के लिए काम करने को होता नहीं है। जबकि कामकाजी समाज में बच्चों को भी काम करना पड़ता है। मैंने यहां उस बात की तरफ चर्चा को मोड़ा जहां हम सरकारी स्कूलों में आने वाले बच्चों के बारे में कहते रहते हैं कि बच्चे घरों में काम करते हैं। इसके चलते वे घर पर पढ़ नहीं पाते या होमवर्क नहीं कर पाते। क्या वैशाली जैसे बच्चे आपके स्कूल में हैं? सवाल ही काफी था। वास्तव में यही फर्क है मुख्यधारा के समाज व हाशियाकृत समाज के बीच और इस फर्क को समझना होगा।

आगे पढ़ना जारी रखा। सब्जी बेचने को लेकर सब्जी वाला रणनीति बनाता है। पिछले दिन की बची हुई सब्जी को पहले बेचा जाता है। यह दिलचस्प मामला लगा हम सभी को।

इस पाठ्य (टैक्स्ट) के बाद कुछ प्रश्न थे जिन पर सार्थक चर्चा हो सकी।

वैशाली के बाबूजी पिछले दिन की सब्जियां पहले बेचने की कोशिश करते हैं। वे ऐसा क्यों करते होंगे?

सवाल आसान मगर दिलचस्प लगा। लगभग एक से ही जवाब आए: पिछले दिन की सब्जी खराब हो जाएगी। सब्जी वाले का नुकसान हो जाएगा।

यहां एक प्रतिप्रश्न किया गया कि कौनसी सब्जियां? क्या वह आलू, प्याज को भी पहले बेचेगा? नहीं, आलू-प्याज जल्दी खराब होने वाली सब्जियों में से नहीं है।

अगला प्रश्न है: क्या तुमने कभी सूखी या सड़ी-गली सब्जी देखी है? कहां?

इस पर सभी शिक्षकों के पास अपने-अपने अनुभव थे। उनमें से कुछ ने कहा कि फ्रीज में भी पड़ी-पड़ी सब्जियां खराब हो जाती है। एक ने कहा कि मंडी में खराब होकर सड़ती रहती है। एक ने कहा कि जब सब्जियों के भाव गिरते हैं तो खेतों में ही सड़ जाती है। आलू-टमाटर की सब्जियों के भाव नहीं आते तो किसान खेत में ही सब्जियों को सड़ा डालता है। एक ने बताया कि बड़ी-बड़ी होटलों में सब्जियां खराब होती रहती है और वे उसी को बनाकर खिलाते हैं।

इस सवाल के जरिए किसानों के शोषण की पोल खुलती है। लिहाजा यह चर्चा शिक्षकों के साथ हुई कि इस तरह के मुद्दों को कक्षा में प्रकट होना चाहिए। यह पाठ्यपुस्तक की तासीर की खूबी है जो इस तरह के मसलों को उठाने की कवायद करती है।

इसी कड़ी में तीसरा सवाल काफी सरल मगर सोचकर जवाब देने को प्रेरित करता है: तुम्हें कैसे पता चलता है कि सब्जी खराब हो गई है?

शिक्षकों ने बताया कि : बदबू आने लगती है। पिलपिली हो जाती है। मुरझा जाती है।

शिक्षकों से पूछा गया : आपको क्या लगता है जिन बच्चों से आप ये प्रश्न पूछेंगे उनके जवाब किस प्रकार के होंगे?

आप सोच सकते हैं कि इस तरह के सवालों को अध्याय के बीच-बीच में क्यों शामिल किया गया होगा? वजह साफ है कि बच्चे केवल श्रोता भर नहीं बल्कि उन्हें अधिक से अधिक इन प्रसंगों में सक्रिय भागीदारी करने के मौके मिलें।

क्या इस दौरान बच्चों को अभिव्यक्ति के अवसर मिल पा रहे हैं या नहीं? क्या इस दौरान पाठ के पाठ्य (टैक्स्ट) को पढ़ा जा रहा है वह पढ़ने की श्रेणी में आता है या नहीं? क्या इस दौरान बच्चे जो कुछ अपनी कॉपी में लिखेंगे वह उनकी लिखने की क्षमता में इजाफा करेगा?

दरअसल, हम पाठ्यपुस्तक के अध्याय पर कार्य करते हुए यह समझने की कोशिश कर रहे थे कि पाठ्यपुस्तक पर काम कैसे किया जाए। और जो सवाल मामूली से लगते हैं वे बच्चों को कैसे सोचने-समझने की दुनिया में ले जाते हैं। जहां वे अपने तर्क को पैना कर सकें। ये सवाल बच्चों को अपनी अभिव्यक्ति के अवसर देते हैं।

उल्लेखनीय है कि एनसीईआरटी द्वारा तैयार की गई पर्यावरण अध्ययन की पाठ्यपुस्तकों की रचना कुछ इस तरह से की गई है कि वे बच्चों को सोचने-समझने व करने तथा अपने विचारों को प्रतिबिंबित करने के अवसर अधिक से अधिक दें। यशपाल समिति की अनुशंसा यहां काफी हद तक क्रियान्वित होती दिखती है। जहां बच्चों के संज्ञानात्मक स्तर को ध्यान में रखते हुए उन्हें अपने संदर्भ से जोड़ते हुए अपने विचारों को व्यक्त करने के मौके मिलें। इसी बात को ध्यान में रखते हुए अध्याय में बीच-बीच में प्रश्न हैं। प्रश्न भी ऐसे हैं कि बच्चे उन्हें समझते हुए अपने संदर्भ के आधार पर अपनी राय रख सकें। इसके अलावा इन पाठ्यपुस्तकों में विज्ञान व समाजशास्त्र, गणित के तत्व गहराई से वैसे ही घुले-मिले हैं जैसे कि हमारे जीवन में।

हमारी दुनिया में समय, दूरी इत्यादि का मापन भी समाया हुआ है। बिना गणित के कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार की एक गतिविधि पेज 122 पर दी गई है। यहां घड़ी के तीन चित्र दिए गए हैं व इनके साथ ही वैशाली के रोजमर्रा के क्रियाकलापों के वक्त को नोट करना है। बच्चों से भी अपेक्षा की गई कि वे भी बताएं कि घड़ी में बताए समय पर वे खुद क्या करते हैं।

वैशाली, उसका छोटा भाई और तमाम बच्चे रात में जल्द ही सो जाते होंगे। लेकिन मेहनतकश लोग तो देर से ही सोते हैं। और तीन बजे वैशाली के पिताजी उठ खड़े होते हैं।

प्रश्न मार्मिक है। मैंने उनसे पूछा कि आप लोग सुबह तीन बजे क्या करते हैं? सभी का जवाब था : हम सभी सो रहे होते हैं। उनके अनुभव में क्या यह है कि कौन लोग हैं जो तीन बजे उठते होंगे? इसी प्रकार से सुबह छह बजे व रात के दस बजे आप क्या करते हैं। जवाब दिलचस्प आए। कुछ पुरुष शिक्षकों ने कहा कि वे सो रहे होते हैं। और रात दस बजे को लेकर अधिकांश शिक्षकों ने बताया कि वे टीवी देख रहे होते हैं।

क्या ये सवाल बच्चों के लिए उपयुक्त हैं? क्या वे इन प्रश्नों पर अपनी राय रख पाएंगे? शिक्षकों को एहसास हो रहा था कि बच्चों के अपने-अपने जवाब होंगे। यहां थोड़ा ठहरकर प्रश्नों की प्रकृति पर बातचीत की गई। क्या इन प्रश्नों में सही-गलत का मामला बनता है? हर सवाल एक खुले जवाब की अपेक्षा करता है। इस बात को समझना होगा। इस प्रकार का शिक्षण बच्चों में आत्मविश्वास पैदा करता है।

अगला प्रश्न जो पूछा गया : तुम्हारे घर में सब्जियां कहां से आती है? उन्हें कौन लाता है?

मामूली से प्रश्न के जरिए जेंडर का मामला उजागर होता है। पुरुष शिक्षकों ने कहा कि वे खुद बाजार से लाते हैं। सब्जी लाने का काम अमूमन पुरुषों का और बनाने का महिलाओं का। एक शिक्षक जो कि ठेठ गांव के थे, उन्होंने बताया कि उनके गांव में कोई दुकान नहीं है। खेत से शाम को आते वक्त लेकर आते हैं।

हम भिंडी की सब्जी खाते हैं। इसके लिए भिंडी को काटा जाता है। भिंडी की सब्जी बनाने के लिए भिंडी को या तो आड़ा काटा जाता है या खड़ा। इससे हम सभी वाकिफ हैं। अगर भिंडी को आड़ी काटें तो कितने कक्ष दिखाई देते हैं? केवल एक शिक्षक ने बताया कि पांच कक्ष होते हैं। और खीरे की आड़ी कटान में? शिक्षकों ने कभी ध्यान से नहीं देखा था। सो, वे कह उठे कि अब ध्यान से देखने की कोशिश करेंगे।

एक शिक्षक ने सवाल किया कि इन सब चर्चाओं का दैनिक जीवन में क्या उपयोग है? वास्तव में आप भिंडी-खीरे की कटानों को न देखें तो भी हमारी सेहत पर कोई फर्क पड़ने वाला नहीं। हम चीज़ों को बारीकी से देखने, खोजबीन करने के मौके तलाशना चाहते हैं। अलग-अलग सब्जियों व फलों की कटानों में बीजों की जमावट के पैटर्न पर अच्छा खासा कार्य कर सकते हैं। यही आगे चलकर वनस्पति विज्ञान की बुनियाद बनता है। (यहां कुछ सब्जियों व फलों की कटानों में दिलचस्प पैटर्न देख सकते हैं।)

बच्चों को चिंतन-मनन के मौके हम अपने संदर्भों में कैसे दे सकते हैं इस प्रकार का कार्य हमें इस अध्याय में आगे और देखने को मिला।

आगे सब्जियों व फलों की एक सूची दी गई है। इसमें से कौन जल्दी खराब हो सकती हैं और कौन कुछ दिनों तक रखी जा सकती है। लगने को यह गतिविधि आसान सी है। मैंने यहां रुक कर ठीक से चर्चा करना चाहा।

सूची इस प्रकार है : पालक, आलू, केला, टमाटर, नाशपती, चीकू, अनानास, लौकी, प्याज, फूलगोभी, खीरा, अंगूर, अदरक।

अब शिक्षकों के बीच बहस प्रारंभ हो चुकी थी। ''खराब होने से क्या मतलब है?'' इस पर समझ बनाई गई। खराब होने का मतलब सड़ जाना, नरम पड़ जाना, बदबू आना, पिलपिली हो जाना आदि।

अब थोड़ा आसान हुआ वर्गीकरण करना।

पालक, केला, टमाटर, चीकू, फूलगोभी, अंगूर ऐसी सब्जियां व फल हैं जो बनिस्बत जल्दी खराब हो जाते हैं। जबकि आलू, नाशपाती, अनानास, लौकी, प्याज अदरक कुछ दिनों तक रखी जा सकती है। हालांकि यहां लौकी को लेकर विशेषतौर पर प्रतिक्रिया दी गई कि लौकी की बनिस्बत आलू, अदरक आदि अधिक दिनों तक रखे जा सकते हैं। इस आसान से वर्गीकरण के जरिए हम सब्जियों व फलों के गुण को समझ सके।

अगली गतिविधि में अवलोकन के एक और पहलू जो कि छूने से संबंधित था को जोड़ा गया। बच्चों के अनुभवों को शामिल किया गया कि कौनसी सब्जियां छूने पर चिकनी व कौनसी खुरदरी लगती है।

आलू पर सार्थक बहस हुई। आलू को एक शिक्षक मान रहे थे कि चिकना है जबकि अन्य उसे खुरदरा मान रहे थे।

असल में इस तरह के फंसाव के मौके बच्चों के बीच आने चाहिए। खुद से निर्णय करने का यह यह बढ़िया उदाहरण है। पहले शिक्षक का तर्क था कि आलू की छाल पर न तो रोंए हैं न ही उसमें कोई खुरदुरापन, छिलका चिकना होता है। दूसरे शिक्षक का कहना था कि आलू में खूब सारे गड्डे होते हैं जो उसको खुरदुरा बनाते हैं।

दोनों के तर्क भारी पड़ रहे थे। जहां बच्चों को रटना, याद करना व मात्र सुनना हो वहां समस्या के समाधान करने की गुंजाइश कम ही होती है। वर्तमान एनसीईआरटी की पाठ्यपुस्तक में ऐसे कितने ही अवसर दिए गए हैं जहां बच्चों के बीच द्वंद की स्थिति पैदा होती है और वे खुद उसका हल कर सकें। अगर हल न भी हो तो भी इस तरह के मसलों को बच्चों के बीच रखा तो जाना ही चाहिए।

शासकीय प्राथमिक विद्यालय दयालपुरा के बच्चों के साथ कार्य

मैंने गोगांवा विकास खंड के प्राथमिक स्कूल दयालपुरा में पर्यावरण अध्ययन पर बच्चों से बातचीत की। इसके एक दिन पहले गोगांवा जन शिक्षा केंद्र पर शिक्षकों के साथ 'मंडी से घर तक' पाठ पर बातचीत की थी।

मैं यह समझना चाह रहा था कि बच्चों के साथ इस थीम पर कैसे बातचीत की जा सकती है। बच्चों की इस थीम पर काम करने के दौरान क्या सीख होती है। वे इस पूरी अवधारणा पर क्या समझ रखते हैं।

लिहाजा मैंने अध्याय पर काम पाठ्यपुस्तक के दायरे में ही किया।

कक्षा चौथी में उस दिन 8 बच्चे थे। मैंने शुरुआत की कि मंडी का क्या मतलब है? इस पर बच्चों ने बताया कि मंडी में चीजें बेची जाती है। सब्जी, अनाज मंडी में गांव के लोग बेचने को जाते हैं।

फिर क्या होता है उसका? बच्चों ने बताया कि फिर इनको और लोग खरीदते हैं। मंडी और बाज़ार में क्या फर्क है? यह फर्क बच्चे नहीं बता पाए। उनसे पूछा कि बाजार तो तुमने देखा है, गए भी होंगे। बाजार में क्या-क्या होता है?

बच्चों ने बताया कि बाजार में चीजें बिकती है। उन्हें लोग-बाग घर में इस्तेमाल के लिए खरीदते हैं।

मैंने जोड़ा : मंडी में लोग थोक में अनाज, सब्जी, फल बेचते हैं और फिर उनको बेचने वाले खरीदकर बाजार में बेचते हैं।

पाठ्यपुस्तक में बीच-बीच में सवाल दिए गए हैं जिन पर बच्चों से बातचीत की।

कौन-कौन तुम्हारे घरों में जल्दी उठता है? इसका जवाब हर बच्चे ने दिया। मां-पिताजी उठने के बाद हम उठते हैं। बच्चों ने बताया कि सभी बच्चों के घरों में मां पहले उठती है।

बाबूजी पिछले दिन की सब्जियां पहले बेचने की कोशिश करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं?

क्या तुमने सूखी या सड़ी-गली सब्जी देखी है? कहां?

तुम्हें कैसे पता चलता है कि सब्जी खराब हो गई है?

उपरोक्त तीनों सवालों पर नजर डालिए। ये वे सवाल हैं जो बच्चों में घबराहट व भय के बजाय उन्हें सोचने को प्रेरित करते हैं। जो बच्चों की अस्मिता को तव्वजो देते हैं। इन सवालों के जवाब देते वक्त बच्चा अपने आपको गौरवांवित महसूस किए बिना नहीं रह सकता। जो जवाब बच्चों ने दिए उन्हें उनकी जबानी देखा जा सकता है।

बच्चों ने जो लिखा उसका आकलन उनके स्तर के अनुसार ही करने की जरूरत है जहां लिखने के दौरान की जाने वाली गलतियों पर अभी बातचीत करने का सही वक्त नहीं है। बल्कि विचार के स्तर पर बच्चे क्या लिखते हैं उसका भावात्मक विश्लेषण करने का वक्त है। यहीं से बच्चों में आत्मविश्वास की नींव पक्की होनी शुरू होती है जिस पर

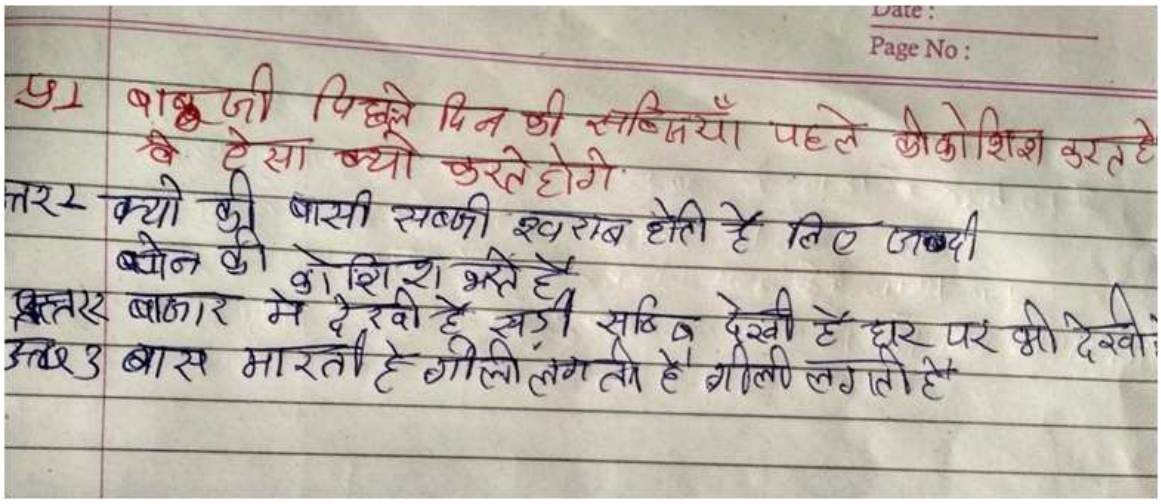

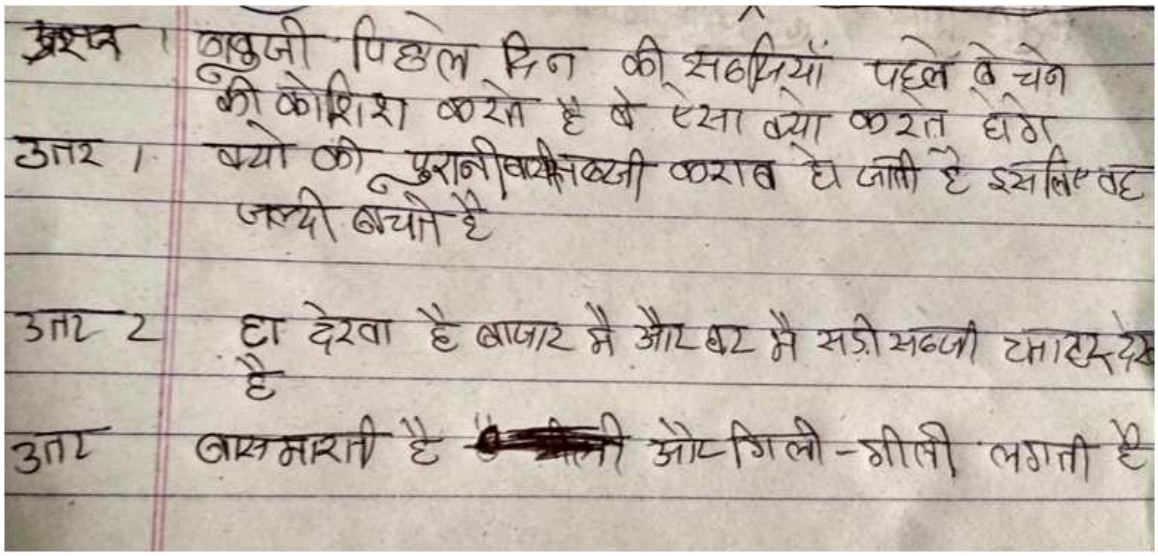

''लाल गोले'' या ''क्रास'' का निशान लगाकर नेस्तनाबूत करने से बचना होगा। बच्चों के इस तरह लिखकर अभिव्यक्त करने का आत्मविश्वास उन्हें इस हुनर में उस्ताद बना सकता है।

इन सवालों के जवाब लिखते वक्त बच्चों का मैं अवलोकन कर रहा था। बच्चों में मायूसी के बदले लिखने पर विजय पाने का संघर्ष था। जो दिमाग में चल रहा है उसे बेबाकी से लिखने की कोशिश में बच्चे लगे हुए थे। हर बच्चे ने लिखा यह कम दिलचस्प नहीं है।

बच्चों को यह बात दिलचस्प लगी वे अचरज कर रहे थे कि सब्जी बेचने वाले रात को ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे तक सोते हैं।

बच्चे घड़ी में दिखाए गए समय को ठीक से नहीं पढ़ पा रहे थे। मैंने थोड़ी मदद की। पहली घड़ी में तीन बज रहे हैं। दूसरी घड़ी में छह बजे हैं और तीसरी में दस बजे हैं। दरअसल, यह अभ्यास पिछले पढ़े हुए के आधार पर जवाब की मांग करता है। इसमें वैशाली क्या कर रही है यह बच्चों से पूछा गया। फिर से पिछले पाठ को पढ़ने की जरूरत हुई।

बच्चों ने सही-सही तो नहीं बताया कि वे कब उठते हैं। सभी यही बता पा रहे थे कि सुबह जल्दी उठते हैं।

अगले सवाल पर बात की गई : तुम्हारे घर में सब्जियां कहां से आती है? कौन लाता है?

दयालपुरा स्कूल के बच्चे गांव में रहते हैं। कुछ ने बताया कि उनके घर में खेत से सब्जी लाते हैं। एक बच्ची ने बताया कि उसके घर के पिछवाड़े में सब्जी की बेल है। कुछ बच्चों ने बताया कि हाट से उनके पिताजी लाते हैं।

अगला सवाल बच्चों को खुली सोच का मौका देता है। कुछ सब्जियों और फलों के नाम दिए गए हैं। अब बच्चों को तय करना है कि कौन जल्दी खराब होगा। बच्चों से कहा गया है कि वे और नाम भी इसमें शामिल कर सकते हैं।

इसके लिए बच्चों को थोड़ी देर के लिए चर्चा करके लिखने के लिए छोड़ दिया गया। बच्चों ने इस पर अपनी समझ के मुताबिक लिखा।

अधिकांश सब्जी व फलों को लेकर आम सहमति दिखाई दी। एक बच्चे ने जो वर्गीकरण किया उसे उसी के शब्दों में यहां देखा जा सकता है।

अगला सवाल काफी आसान मगर दिलचस्प है। उपरोक्त सब्जियों व फलों में से कौन खुरदरी व कौन चिकनी हैं?

बच्चे सोच रहे थे। लग रहा था जैसे उनकी आंखों के सामने उन सब्जियों व फलों के चित्र नाच रहे थे। लगभग सभी सब्जियां व फल उनके संदर्भ के उन्होंने इस्तेमाल किए थे।

जब हम बच्चों को सीखने-समझने के मौके देते हैं तो इस प्रक्रिया में वक्त लगता है। इसके लिए शिक्षक को धैर्य से काम लेना होता है। कक्षा में जब सामूहिक चर्चा होती है तो उसमें असहमतियों को भी स्थान देना होता है। बात आलू को लेकर अटक गई। एक बच्चे ने कहा कि आलू तो खुरदरा होता है। जब मैने शिक्षकों के साथ इसी मसले पर कार्य किया था तब भी आलू पर आकर चर्चा अटक गई थी।

उस बच्चे का तर्क था कि आलू में कुछ गड्डे जैसे होते हैं। इसलिए आलू को खुरदरे में रखेंगे। जब आलू को खुरदरा

कहा गया तो बात दूर तलक गई। एक बच्ची ने कहा कि फिर तो पालक भी खुरदरा है। मैंने पूछा कैसे? इस पर उसने अपने शब्दों में बताया कि पालक की पत्ती में लकीर होती है। लकीर का अर्थ? लकीर मतलब लकीर! बात फंस गई। मैंने कहा कि पालक की पत्ती तो चपटी होती है। उसमें लकीर कहां होती है। पत्ती पर बीच में एक बड़ी लकीर होती है। फिर उसमें से छोटी लकीर पत्ती पर होती है। मैं समझ चुका था। बच्ची पालक की पत्तियों में नसों या कि शिराओं की बात कर रही है जो पत्ती में उभरी होती है। अगर बच्चों को आलू की आंख की वजह से व पालक में नसों की वजह से खुरदरेपन का अहसास होता है तो हर्ज तो नहीं होना चाहिए। फिर एक बच्ची ने खीरे याने कि ककड़ी को खुरदरा कहा। मैंने पूछा कैसे? उसने बताया कि ककड़ी में कांटे-कांटे होते हैं। उसने आगे कहा कि गर्मी में ककड़ी आती है उस पर खड़ी धारियां होती है। इसलिए ये भी खुरदरी है।

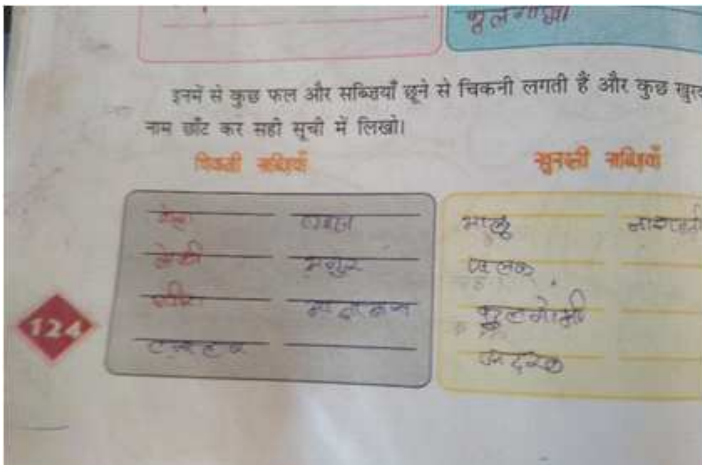

बहरहाल, बच्चों के अपने अनुभव थे जहां सही-गलत का मामला नहीं बनता है। बच्चों के चेहरों पर आत्मविश्वास कुलांचे भर रहा था।

अगला सवाल फिर से अपने अनुभवों को साझा करने पर आधारित था। ऐसी सब्जी जो सबसे भारी लगे उसका चित्र बनाने को कहा गया था।

सभी बच्चों ने कद्दू का नाम बताया।

अगला प्रश्न ऐसी सब्जियों के नाम बताने को लेकर था जिनमें बीज नहीं होते। इस सवाल में बच्चों को कोई दिक्कत नहीं आई। बच्चों ने पालक, आलू, गोभी वगैरह बताए।

मैं सोच रहा था कि इस स्तर पर पाठ्यपुस्तक लेखकों ने सब्जी और फल में फर्क सामाजिक आधार पर ही प्रस्तुत किया गया है। जो सब्जियों के रूप में खाई जाती है और जो फल के रूप में। वाकई में टमाटर, केला, सेवफल, भिंडी, कद्दू, खीरा वगैरह वनस्पति शास्त्र के दायरे में फल की श्रेणी में आते हैं। लेकिन यहां जो वर्गीकरण है वह सब्जी के रूप में भोजन के साथ पकाकर या कच्चा खाने से है और फल जो कि भोजन के अलावा खाए जाते हैं। क्योंकि सब्जी की श्रेणी में आलू, गाजर, पालक, मेथी इत्यादि शामिल है।

पेज 123 पर बच्चों को एक गतिविधि करने को कहा है। मैंने बच्चों का ध्यान इस ओर खींचा। अगर भिंडी की लंबाई को मापना हो

तो कैसे मापेंगे? बच्चों ने सीधा जवाब दिया स्केल से। हालांकि इस जवाब में कोई समस्या नहीं है। लेकिन मुझे लगा कि यहां बच्चों को एक अतिरिक्त इशारा करना होगा। स्कूल के मध्याह्न भोजन की रसोई से गाजर, मिर्ची व टमाटर बुलाए गए। मिर्ची व गाजर की लंबाई नापने पर बातचीत की गई। मैंने बच्चों के सामने समस्या रखी कि गाजर, मिर्ची पेंसिल की तरह सीधी-सपाट नहीं होतीं। मैंने गाजर हाथ में उठाकर उसे बच्चों को दिखाया। वाकई में गाजर व मिर्ची में टेढ़ापन था। तो टेढ़ी-मेढ़ी आकृति की लंबाई मापने के लिए क्या किया जाना चाहिए?

बच्चों के पास इसका जवाब नहीं था। मैंने बताना उचित समझा। मैंने कहा कि एक धागा चाहिए। कक्षा में धागा नहीं था। धागे के विकल्प के रूप में फाइल का लेस जो एक मोटे धागे-सा था लिया। फाइल के लेस के जरिए बच्चों के सामने प्रदर्शन किया गया कि पहले धागे को गाजर के सहारे सटाकर रखकर उतने धागे को स्केल से माप लिया जाए। मैंने उन्हें बताया कि किसी भी आड़ी-टेढ़ी चीज की लंबाई इसी तरह से धागे की मदद से नापी जाती है।

पुस्तक में एक तालिका दी गई है जिसमें फलों व सब्जियों के बारे में जानकारी जुटाकर भरना है।

बच्चों ने सेवफल खाया तो था मगर उसका भाव नहीं पता था। इसलिए सेवफल का दाम क्या है यह उन्हें पता करने को कहा। एक बच्चे ने मुझसे पूछा कि आप बता दीजिए। मैंने उसे बताया कि पिछले दिनों मैंने 120 रुपए किलो सेवफल खरीदा था।

केले का दाम बच्चों को पता था जो दस रुपए से लगाकर 20 रुपए किलो तक बताया गया। बच्चों ने पपीता, जामफल (अमरूद) व चीकू के नाम जुड़वाए।

कुल मिलाकर मुझे एहसास हुआ कि अगर बच्चों की अपने संदर्भ की चीज़ों को आधार बनाकर विमर्श किया जाए तो उनमें सोचने-समझने का हुनर विकसित होता है। बच्चों के अनुभवों को और विस्तार देने के लिए भी कुछ सुराग मिल चुके थे। उम्मीद की जानी चाहिए कि बच्चे अब सब्जियों के भाव व उनके और गुणों के बारे में समझेंगे व खोजेंगे।

उपसंहार में एक बार फिर से पाठ्यपुस्तक के बारे में कुछ बातें। पर्यावरण अध्ययन की ये पाठ्यपुस्तकें खुलापन लिए हुए है। बच्चों को खुलेपन के साथ करने, सोचने का मौका देती हैं। ये बच्चों को उस कथित कक्षाई जकड़न व नीरसता से परे वहां ले जाती हैं जहां बच्चे खुशहाली की छांव तले सुकून के साथ सीख सकते हैं।

बच्चों के साथ काम करने के दौरान यह समझ और गहरी हुई कि उनमें सोचने, करने व खोजबीन का गुण होता है जिसे खुलेपन, उनके संदर्भ व उनको इनके अवसर देकर पोषित किया जा सकता है। ◆

लेखक परिचय : पिछले पच्चीस सालों से विज्ञान शिक्षण, पर्यावरण अध्ययन, शिक्षा और समाज के विषयों पर निरंतर लेखन। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में लगभग 18 वर्ष तक संलग्न रहे। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं।

संपर्क : 8226000428; **ईमेल :** kr.sharma@azimpremjifoundation.org

R.N.I.No.RAJHIN/1999/0359 शिक्षा विमर्श

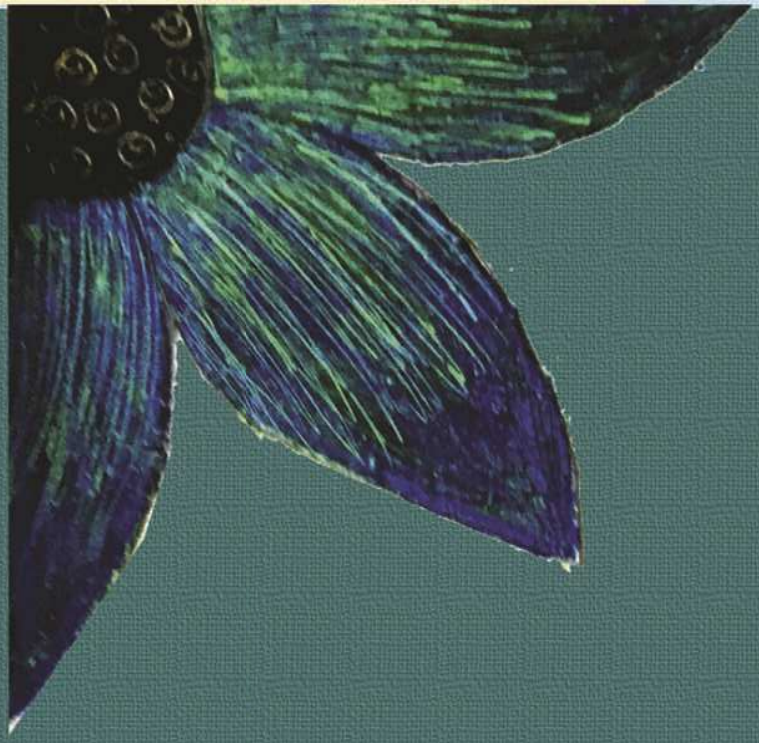

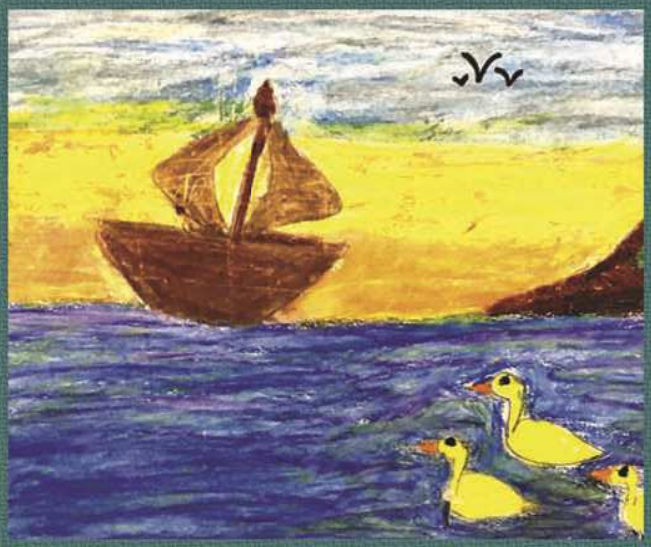

(केया शर्मा, उम्र 11 वर्ष, कक्षा 7)

केया की चित्र बनाने में रुचि है और बड़ी होकर चित्रकार बनना चाहती है। इनके चित्रों में एक खास प्रकार की अभिव्यंजना प्रकट होती है।

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित